सिद्धयोग

2017

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

एक प्रति : 20/- द्विवार्षिक : 360/-

प्रकाशन तिथि : 01.11.2017

वर्ष : 50; अंक : 8

नवम्बर 2017

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन

सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

जीवन का सनातन प्रश्न

प्राय: सभी मनुष्यों के जीवन में किसी न किसी समय ये प्रश्न आये बिना नहीं रहते हि 'मैं कहाँ से आया हूँ ?' और 'कहाँ जाऊँगा ?' – 'कोऽहं कुत आयातः'। बात स्पष्ट है कि अनभिज्ञ लोग या अल्पज्ञलोग इन प्रश्नों को ढालने का प्रयत्न करते हैं। अधिकांश विद्वान् लोग विचार करके थक जाते हैं और उत्तर शायद ही पाते हैं। ये प्रश्न सनातन हैं और खोज भी पुरातन ही है। जगत्सुष्टि के समय से यह खोज सभी देशों में और सभी मतों तथा सभी दर्शनों में की जा रही है। विभिन्न मतवाले लोग परलोक तथा पुनर्जन्म के सम्बन्ध में अपने–अपने विचार भी प्रदर्शित करते रहे हैं। इन सब विचारों पर परामर्श किये बिना अपने–अपने आध्यात्मिक सिद्धान्त का स्थापित करना असम्भव नहीं तो, कठिन अवश्य है।

कठोपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता का बीज–प्रश्न भी यही है। अन्यान्य उपनिषदों में, पुराणों में और दर्शन ग्रन्थों में भी इस विषय पर बड़ी चर्चा आयी है। वह ठीक ही है ; क्योंकि पुनर्जन्म परलोक सम्बन्धी चर्चा के बिना अध्यात्म विचार हो ही नहीं सकता। कठोपनिषद् में –

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये–
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
तद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः।।

(1/1/20)

यह जो प्रश्न अधिकारी शिष्य नचिकेता ने गुरु ब्रह्म विद्याचार्य वैवस्वत यम से किया, वह प्रश्न सनातन ही है। गीता का द्वितयाध्याय, जो गीता का हार्द है और जिसमें अर्जुन के मुख्य प्रश्न का उत्तर आया है, वह सम्पूर्णतःकठोपनिषद् पर ही आधारित है। दोनों में 'नार्य हन्ति न हन्यते' इत्यादि कई सिद्धान्त–वाक्य समान रूप से उपलब्ध होते हैं, यह बात विद्वानों को विदित ही है।

●●●

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

वर्ष : 50
अंक : 8

नवम्बर
2017

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे,
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम्।।
(यजुर्वेद)

जो स्वयं प्रकाश स्वरूप है और जो प्रकार्य चन्द्र आदि पदार्थों को उत्पन्न करके, इनको धारण किये हुए है, जो सम्पूर्ण जगत का स्वामी है चेतन स्वरूप है, जो इस जगत से पहले भी था और पृथिवी भूमण्डल आदि समस्त ब्रह्माण्ड का आधार है उस सुख स्वरूप परमात्मा की अति प्रेम के साथ हम विशेष भक्ति किया करें।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

SIDDHYOG
HINDI MONTHLY

सम्पादक :
आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक :
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

इस अंक में...

1. विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज 3
2. सम्पादकीय 8
3. श्रीमद्भागवत में योग-परिचर्चा – डॉ विजय सिंह 10
4. योग-साधन में जप का महत्व – श्री सुधाकर उपाध्याय 13
5. श्री गुरु – महिमा – श्री रामयश उपाध्याय 18
6. गुरुदेव का योग प्रचार कार्यक्रम – अशोक शर्मा 23
7. पंचम योग शिविर का आयोजन – हेमराज चोपड़ा 25
8. परमात्मा ही जीवात्मा का सत्यस्वरूप है – डॉ. ऋषिराम शर्मा 28
9. प्रकृति से अपना नाता तोड़कर परमात्मा से अपना नाता जोड़ो–ओमप्रकाश 35
10. योग-आसन 40

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 360.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1000.00

विशेष लेख—

कर्मयोगो विशिष्यते

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

त्रिलोकपावन अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र ने गीता में योग की महिमा को खोल–खोल कर बताया है। कर्मयोग एवं कर्मसन्यास के रहस्य को अर्जुन समझना चाहता है। वह भगवान से कहते हैं—आपने कर्म संन्यास की बात कही है और फिर योग की प्रशंसा करते हैं। भगवान ने इसके उत्तर में कहा है—

'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरा वुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।।'

भगवान का आदेश है कर्म संन्यास से कर्म योग का दर्जा श्रेष्ठ है। कामनाओं का परित्याग करना संन्यास कहलाता है। यह बिना योग के नहीं हो सकता। हम शरीर से ही कर्म संन्यास करते हैं मन से नहीं। भगवान कहते हैं—

'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसः स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।'

अर्थात् जो कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करते हैं, वे ढोंगी हैं। इसलिए भगवान ने अपने मुखारविन्द से कर्मयोग की महिमा इन शब्दों में गायी है—

'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योग युक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणा धिगच्छति।।'

अर्थात् हे अर्जुन! योग के बिना संन्यास को प्राप्त करना कठिन है। जबकि, योग युक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्म तत्व को पा जाता है। योगी लोग समदर्शन वाले होते हैं। सब में आत्म तत्व को देखते हैं, **'शुनि चैव श्वपाके च पण्डितः समदर्शनः'** किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि वे लोग व्यवहार में भी **'शुनि चैव श्वपाके च'** शुनि और श्वपाक–कुत्ते और चाण्डाल में मिले रहते हैं। समदर्शन का तात्पर्य एक होना नहीं है। जो पूर्ण आन्तरिक विकास वाले हैं, कन्दमूल खाने वाले हैं, उनका अन्तःकरण निर्मल होता है। अतः वे लोग न्यारे रहते हैं। हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही प्रथा है कि ब्राह्मण ही भोजन बनावें। बड़े–बड़े राजाओं के यहाँ भी ब्राह्मण होते थे। कारण यह था कि वे तपस्वी होते थे, उनमें तप और तेज होता था।

शास्त्रीय सिद्धान्त है, मनुष्य के हाथों से तेज की धाराएं निकला करती हैं। यदि मानव में तामस भरा हुआ है तो उन धाराओं में तामस होगा। यही कारण है कि लोग महात्माओं से प्रसाद लिया करते हैं। तुम लोग प्रसाद लेते हो–''गुरु जी! प्रसाद दे दो। हमारा ध्यान लग जाएगा। हम प्रसाद दे देते हैं'' हमारे पास एक बार दो अंग्रेज आए। हमने उन्हें गुफा की रज दी, उनका ध्यान लग गया। उसके बाद वे हमें फिर से दिल्ली में मिले, वहाँ हमने उनको फूल का प्रसाद दिया, खूब अच्छा ध्यान लगा। उन्होंने रूस जाकर देवी सिंह सिसोदिया को पत्र लिखा। जिसमें लिखा था–''हम गुफा पर गये। वहाँ की मिट्टी खाई, खूब मन एकाग्र हुआ। यहाँ आकर हमने खूब मिट्टी खाई, फूल खाए, किन्तु कुछ नहीं हुआ। अब की बार हम यन्त्र लेकर आएंगे और देखेंगे कि गुफा में और महाराज जी में क्या करामात है''। दोनों अंग्रेज यन्त्र लेकर दोबारा मेरे पास आए। कहने लगे–हम आपको मशीन से देखेंगे। मशीन वगैरह लगाते रहे। किन्तु उन्हें समझ नहीं आया। दोबारा फूल का प्रसाद लिया, तीन चार घण्टे उठे ही नहीं। बाद में कहने लगे। आप रूस चलें। मैंने कहा–''हमारे लिए तो भारत ही बड़ा है'' कहने का अभिप्राय यह है कि जो लोग आत्मावान् होते हैं, ध्यान परायण होते हैं उनके हाथों से तेजी की धाराएं शुभ्र निकलती हैं। हमारे हिन्दू समाज में छोटे–बड़ों को प्रणाम कहते हैं। बड़े हाथ से स्पर्श कर आशीर्वाद देते हैं–**'आयुष्मान् भव!'** आदि–आदि। हाथों से पैर छूने का अर्थ है शक्ति लेना! हाथ सिर पर रखने का अर्थ है शक्ति देना। यह वैज्ञानिक बात है। हमारे तुम्हारे पूर्वज इस बात को जानते थे। हमारे ऋषि इस बात को जानते थे कि **'यथा अन्नं तथा मनः'** जैसा अन्न होता है वैसा ही मन बनता है। यदि एक व्यक्ति चोर का, हत्यारे का अन्न खाता है तो मन में विकार पैदा हो जाता है। ऋषिकेश आश्रम में श्री प्रभु जी के पास एक दरोगा जलेबी लेकर आया। श्री प्रभु जी ने इसे खाने को मना कर दिया था। किन्तु, किसी एक ने यह आज्ञा सुनी नहीं थी, उसने इसे सबको बाँट दिया। परिणाम यह हुआ कि तीन दिन तक किसी का ध्यान लगा ही नहीं। नरसिंह मूर्ति जी कहने लगे हम न्यौली आदि करके इसे निकाल देंगे किन्तु श्री प्रभु जी ने कहा–**''आँतों ने रस ले लिया है असर तो करेगा ही करेगा''**। सब लोग प्रभु जी से कहने लगे। प्रभु जी! अब हम लोग क्या करें? श्री प्रभु जी ने कहा–तुम गंगा किनारे बसुधारा (चन्द्रेश्वर) के पास जाकर बैठ जाओ। एक महात्मा उस पार बैठते हैं। कभी–कभी अपनी कुटिया से बाहर निकलते हैं। उनकी मदद तुम पर हो गई तो ध्यान लग जाएगा। देखो, संसार का कल्याण तो करना चाहिए। किन्तु अपने को नहीं खोना चाहिए। भगवान ने गीता में कहा है–

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।'

अर्थात् जो योग में बढ़ना चाहता है उसे अपने अभ्यास रूपी कर्म में लगे रहना चाहिए। मनुष्य को पुण्यों का खजाना बढ़ाते रहना चाहिए। पुण्य के प्रभाव से ही मान-सम्मान, धन एवं सुख मिलता है। पुण्यों का खजाना जमा करना भी कठिन बात है। मनुष्य दान करता है, पुण्य करता है-ख्याति चाहता है कि अमुक का अन्न क्षेत्र चल रहा है-बड़ाई चाहने से पुण्य का बदला मिल जाता है। प्रायः पुण्य समाप्त हो जाता है। कुछ पुण्यों का फल साथ-साथ मिल जाता है। कुछ का जन्मान्तर में मिलता है। पुण्य बढ़ता रहे, बढ़ते-बढ़ते निष्काम हो जाएं। इससे निष्काम नहीं हो सकता कि कोई कह दे कि हमने यह काम तो कर दिया है किन्तु हमें फल की इच्छा नहीं है। इतना कुछ कह देना भी फल देने के लिए काफी है। इस प्रकार से कहना भी श्लाघा है और उसका फल भी मिलता ही है। यह नहीं हो सकता कि कोई मुनष्य श्लाघा नहीं चाहें। श्लाघा हम भी चाहते हैं, तुम भी चाहते हो, सभी चाहते हैं। इस प्रकार से इच्छाओं से छूटने का उपाय है। **'कुर्वन्नै वेह कर्माणि''** मनुष्य कर्म करता चला जाए। एक मनुष्य जो कर्म नहीं करता, अल्हड़ पड़ा रहता है वह तो एक प्रकार से ईश्वर का अपराधी है। जो व्यक्ति कर्मरत नहीं है, वह वायुमण्डल को दूषित करता है। वह पड़ा रहेगा, पड़े-पड़े उल्टी-उल्टी बातें सूझेंगी। योगी ध्यानी तो वह है नहीं, अकेला पड़े रहने से उसे दुर्व्यसन ही घेरेंगे। इसलिए जो मनुष्य कर्मरत् नहीं है वह ईश्वर का अपराधी है। वेद भगवान की आज्ञा है। **''कुर्वन्नैह कर्माणि जिजि विशेत शतः समाः''** जो मनुष्य 100 वर्ष की आयु तक निष्काम कर्म करते हुए जीने की इच्छा रखते हैं वह कर्मफल से अलहदा हो जाते हैं। हमने जब सवांई में पहले-पहले योग प्रचार आरम्भ किया तो सुबह से लेकर दोपहर 2 बजे तक लगभग 150 व्यक्तियों को नेति और आसन कराया करते थे।

मेरे पास एक संन्यासी महात्मा का संदेश आया। उसको लोग लम्बा होने के कारण लम्बे नारायण कहते थे। उन्होंने मुझे चिट्ठी लिखकर के भेजी उसमें लिखा था-निवृत्ति मार्ग में रहने वाले व्यक्ति को प्रवृत्ति मार्ग में नहीं पड़ना चाहिए। इसलिए यह नेति आसन आदि का प्रपंच आप छोड़ दें। खैर! हम तो अपने कर्म में लगे ही रहे उसका जो परिणाम निकला वह सब के सामने है। गीता में भगवान कहते हैं-

''कर्मेन्द्रियाणि संयम्य या आस्ते मनसा स्मरन् इन्द्रियार्थान विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते'' जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से विषयों का चिन्तन करता है वह ढोंगी होता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कर्म करते-करते निष्कामता को प्राप्त हो जाता है। 'अहं

ब्रह्मास्मि' 'प्रज्ञानंब्रह्म' दो चार बार ऐसा कह दिया ऐसी धारण करते रहे और पड़े रहे और यह सोचते रहे कि अब हमारे लिए कोई कर्म आवश्यक नहीं ऐसे पड़े रहने से ही शुभ भावना नहीं होती। **न लिंङ्गम् धर्म कारणम्** वेश **(चिन्ह)** धर्म का कारण नहीं होता। एक बार मैं ऋषिकेश में रात के लगभग 10–30 बजे गंगा किनारे से ध्यान से उठकर आया। रास्ते में एक संन्यासी महात्मा जी की कुटिया पड़ती थी। उसमें से तीव्र बदबू आ रही थी। मैंने अन्दर झाँक कर देखा, तो महात्मा जी मछलियाँ तल रहे थे। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जो लोग एकान्त में पड़े रहते हैं, कुछ काम नहीं करते। वे भी दुष्कर्मों से मुक्त नहीं हो पाते। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को नियमानुवर्तिता में लगाए रखे। हम अपने बच्चों को **समकायशिरोग्रीव** होकर बैठने को कहते हैं। जिनका ध्यान नहीं लगता उनका भी लगने लगेगा। इससे सुषुम्णा चलती है। उसमें भी ब्रह्मनाड़ी में एकाग्रता होती है। यदि मनुष्य संयमी है सदाचारी है, खान पान ठीक है, मिताहारी है, तो उसका मन एकाग्र हो जाता है। भगवान् संकेत करते हैं।

'युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।'

साधक का भोजन परिमित होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सब को ही थोड़ा खाना चाहिए। एक नौजवान काफी मात्रा में भोजन का परिपाक कर सकता है। उसे तदनुसार ही भोजन करना चाहिए। हमें इतना भोजन करना चाहिए, जितना कि जठराग्नि ठीक से परिपाक कर सके। इतना थोड़ा भी नहीं होना चाहिए कि अग्नि शरीर को ही जलाने लगे। इसलिए भोजन युक्त हो। अपने बलाबल को देखकर भोजन करे। साधक का सोना, जागना सब ठीक समय पर होना चाहिए। युक्त विहार, मनोरंजन व हरकतें भी उपयुक्त होनी चाहिए। साधक को थोड़ा ही बोलना चाहिए। वाणी की जितनी जरूरत हो उतना ही बोले। सभी कर्म व चेष्टा समय पर और ठीक–ठीक करे तो **'योगी भवति दुःखहा'**। योग दुखों को दूर करने वाला होता है। भगवान् गीता में कर्मयोग और संन्यास को न्यारा–न्यारा बतलाते हैं। यदि हम केवल **'ब्रह्मास्मि–ब्रह्मास्मि'** कहते रहें तो यह जीभ का कार्य है, शब्द आकाश का गुण है, आकाश में लय हो जाता है। बाह्य व्यापार से ब्रह्मत्व नहीं आएगा। **'आरुरुक्षोर्मुनेयोगं कर्म कारणमुच्यत्ते'** अपनी सुषुम्ना को चलाओ। जो खट्टे–मीठे पदार्थ खाता है तथा बहुत खाता है उसकी नहीं सुषुम्ना चलेगी। किसकी चलेगी? जो जप करता है। तप करता है, स्वाध्याय करता है। जिसका आहार–विहार युक्त है, जो जितेन्द्रिय है उसकी सुषुम्ना चलेगी। सुषुम्ना के भीतर तीन नाड़ियाँ हैं, बीच में ब्रह्मनाड़ी है तथा एक तरफ वज्रा और दूसरी तरफ चित्रिणी हैं। यदि योगी अपने को यम–नियमों के अनुसार नहीं ढालता तो कुण्डलिनी चित्रिणी या वज्रा को

छूएगी, ब्रह्मनाड़ी को नहीं। यदि कचत्रणी को छूती है तो दृश्य दिखाई देंगे, वज्रा को छूएगी तो क्रोध अहंकार को स्पर्श करेगी। अतः तप और स्वाध्याय को बढ़ाओ, ताकि कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी को स्पर्श करे। हठयोग में बन्ध लगाते हैं, वह और बात है किन्तु ध्यानी को **'समकायशिरोग्रीव'** होना चाहिए। योग में **'आरुरुक्षो'** के लिए ये सब आवश्यक कर्म है। जब साधक योगारूढ़ हो जाता है, वृत्ति ऊपर चली जाती है। वह आत्मस्थ हो जाता है। तब वह **'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'**। योगी स्पष्ट देखता है, कल्पना या भाव से नहीं। 'इसमें भी मैं हूँ' इसमें भी मैं हूँ' इस प्रकार से सर्वत्र अपने ही तेज को देखता है। जब तक हमारी ब्राह्य वृत्ति रहेगी, समता नहीं आ सकती। जब वृत्ति भीतर को चलेगी, तभी द्वन्द्व सहन होगा। भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी। ये द्वन्द्व तभी आपको नहीं सतायेंगे, जब तुम्हारी वृत्ति भीतर को चलेगी। निर्विकल्प तेज में जब योगी लीन होगा, द्वन्द्वाभास भी नहीं होगा। इसलिए तुम्हें योगारूढ़ हो जाना चाहिए। कहने मात्र से योगारूढ़ नहीं हो जाओगे, ध्यान के अभ्यास से, भीतर के नजारे प्रारम्भ होते हैं। तब साधक शांति की ओर जाता है।

'सर्वद्वारेषु देहऽस्मिन् प्रकाश उपजायते'

अर्थात् जब ध्यानाभ्यास से सतोगुण का पूर्ण विकास हो जाता है, तब योगी देखता है कि उसके रोम कूपों से प्रकाश की धारायें निकल रही हैं, इसलिए यदि दुःख द्वन्द्वों से छूटना चाहते हो, तो अन्तर्दृष्टा बनो। यह तभी होगा जब वृत्ति को भीतर की ओर ले जाने का प्रयत्न करोगे। जो योग की ओर चलेंगे, उनका ध्यान अवश्य लगेगा। अस्तु!

इस संसार में आये हो तो अब उठो, जल्दी करो और उन उदार प्रभु की शरण में जाओ। यह देह तो देवताओं की है, धन सारा कुबेर का है, इसमें मनुष्य का क्या है ? देने–दिलाने वाला, ले जाने–लिवा ले जाने वाला तो कोई और ही है। इसका यहाँ क्या धरा है; रे मूरख ! क्यों नाशवान के पीछे भगवान की ओर पीठ फेरता है ?

...283202 (आगरा) उ.प्र.

सम्पादकीय–

ध्यान योग का महत्त्व

(महाभारत के आधार पर)

आचार्य (डा.) दासलाल जी महाराज

महाभारत महाकाव्य में शान्ति पर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में ध्यान योग का सुन्दर वर्णन हुआ है। यह उपदेश पितामह भीष्म का युधिष्ठिर को दिया गया उपदेश है। यहाँ पर उसी का संक्षेप में विवरण दे रहे हैं–

भीष्म पितामह कहते हैं–युधिष्ठिर! अब मैं तुम्हें ध्यान योग के विषय में बताता हूँ। निर्वाण स्वरूप मोक्ष में मन लगाने वाले ज्ञान तृप्त व योगयुक्त महर्षि उसी उपाय का अवलम्बन लेते हैं जिससे ध्यान का भलीभाँति अनुष्ठान हो सके। कुन्तीनंदन! वे संसार के काम–क्रोध आदि दोषों से तथा जन्म सम्बन्धी दोष से शून्य होकर परमात्मा के स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। इसीलिए उन्हें पुनः इस संसार में लौट कर आना नहीं पड़ता। ध्यान योग के साधकों को चाहिए कि सर्दी–गर्मी आदि द्वन्द्वों से रहित होकर शौच, सन्तोष आदि नियमों में तत्पर रहें। जो स्थान असंग (सब प्रकार से योगों से शून्य) ध्यान विरोधी वस्तुओं से रहित तथा मन की शान्ति देने वाले हों, इन्द्रियों को विषयों की ओर से समेट कर काठ की भाँति स्थिर भाव से बैठ जाये और मन को एकाग्र करके परमात्मा के ध्यान में लगा देवे। योग को जानने वाले समर्थ पुरुष को चाहिए कि कानों के द्वारा बाहर के शब्दों को न सुने, त्वचा से स्पर्श न करे, आँख से लुभाने वाले रूप को न देखे और जिह्वा से रसों को ग्रहण न करे एवं ध्यान के द्वारा समस्त सूंघने योग्य वस्तुओं को भी त्याग कर दे तथा पाँचों इन्द्रियों को मथ डालने वाले इन विषयों की कभी मन से भी इच्छा न करे। तत्पश्चात् बुद्धिमान एवं विद्वान पुरुष पाँचों इन्द्रियों को मन में स्थिर करे। उसके बाद पाँचों इन्द्रियों सहित चंचल मन को परमात्मा के ध्यान में एकाग्र करे। मन नाना प्रकार के विषयों में विचरने वाला है उसका कोई स्थिर आलम्बन नहीं है। पाँचों इन्द्रियाँ मन के इधर–उधर निकलने के द्वार हैं तथा वह अत्यन्त चंचल हैं। ऐसे मन में धीर योगी पुरुष पहले अपने हृदय के भीतर ध्यान मार्ग में एकाग्र करे। जब वह योगी इन्द्रियों सहित मन को एकाग्र कर लेता है तभी उसके प्रारम्भिक ध्यान मार्ग का आरम्भ होता है। युधिष्ठिर! यह मैंने तुम्हें ध्यान मार्ग की विधि बताई है। इस प्रकार प्रयत्न करने से मन इन्द्रियों सहित कुछ समय के लिये स्थिर हो जाता है वही फिर अवसर पाकर जैसे बादलों में बिजली चमक उठती है उसी प्रकार पुनः बारम्बार विषयों की

ओर जाने के लिये चंचल हो जाता है। जैसे पत्ते पर पड़ी हुई पानी की बूँद सब ओर से हिलती रहती है उसी प्रकार ध्यान मार्ग में स्थित साधक का मन भी प्रारम्भ में चंचल होता रहता है। एकाग्र करने पर कुछ देर तो वह ध्यान में स्थिर रहता है किन्तु फिर नाड़ी मार्ग में पहुँचकर भ्रान्त सा होकर वायु के समान चंचल हो उठता है। ध्यान योग को जानने वाला साधक ऐसे विक्षेप के समय खेद या क्लेश का अनुभव न करे अपितु आलस्य और मात्सर्य का त्याग करके ध्यान के द्वारा पुनः मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करे।

योगी जब ध्यान का प्रारम्भ करता है तब पहले उसके मन में ध्यान–विषयक विचार विवेक और वितर्क आदि प्रकट होते हैं। ध्यान के समय मन में कितना ही क्लेश क्यों न हो, साधक को उससे ऊबन नहीं होनी चाहिए बल्कि और भी तत्परता से मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करना चाहिए। ध्यान योगी मुनि को सर्वथा अपने कल्याण का ही प्रयत्न करना चाहिए।

जैसे धूलि, भस्म और सूखे गोबर के चूर्ण की अलग–अलग इकट्ठी की हुई ढेरियों पर जल छिड़का जाये तो वे सहसा जल से भीगकर– तरल या नर्म नहीं हो सकती, उसके द्वारा कोई आवश्यक कार्य नहीं किया जा सकता, बार–बार भिगोने पर ही धीरे–धीरे वह गीला होकर नर्म हो जाता है उसी प्रकार योगी विषयों की ओर बिखरी हुई इन्द्रियों को धीरे–धीरे विषयों से समेटे और चित्त को ध्यान के अभ्यास में क्रमशः स्नेहयुक्त बनावे।

भरत नन्दन! ध्यान योगी पुरुष स्वयं ही मन और पांचों इन्द्रियों को पहले ध्यान मार्ग में स्थापित करके नित्य किये हुए योगाभ्यास के बल से शान्ति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मनोनिग्रह पूर्वक ध्यान करने वाले योगी को जो दिव्य सुख प्राप्त होता है वह मनुष्य को किसी दूसरे पुरुषार्थ या दैवयोग से भी नहीं मिल सकता है। उस ध्यान जनित सुख से सम्पन्न होकर योगी इस प्रकार दुःख–शोक से रहित निर्वाण (मोक्ष) पद को प्राप्त हो जाता है। निम्न श्लोक पढ़ने योग्य है–

सुखेन तेन संयुक्तो रंस्यते ध्यान–कर्मणि,
गच्छन्ति योगिनो ह्येवं निर्वाणं तन्निरामयम्।।

इस प्रकार से महाभारत के शान्ति पर्व में मोक्ष धर्म पर्व के अन्तर्गत भीष्म पितामह ने धर्म–राज युधिष्ठिर को ध्यान योग की विधि एवं महिमा का संक्षेप में वर्णन किया है। इसी पर्व में आगे के अध्यायों में ध्यान योग, जप विधि तथा उसके अनुपम लाभ का विवेचन किया गया है। ये सब योग–साधकों के लिए अत्यन्त ग्राह्य विषय हैं। महाभारत में योग तत्व का निरूपण स्थल–स्थल पर हुआ है और यह कहा गया है–

''नास्ति योगात् परम् बलम्''

योग से बढ़कर कोई दूसरा बल नहीं है। योग बल से ही आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है तथा परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है।

"ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः"

श्रीमद्भागवत में योग-परिचर्या

डॉ. विजय सिंह

नवम् स्कन्ध के तेरहवें अध्याय में गुण–वृत्ति विरोध बड़े–बड़े ज्ञानियों में भी रहा करता है। श्री सद्गुरु देव जी कहते रहे हैं कि प्रकृतस्थ हुआ योगी अपने मूल प्रकृत से ही व्यवहार करता है। ऐसी अवस्था में ब्रह्मज्ञ गुरु एवं शिष्य का भी गुण–वृत्ति–विरोध प्रकट होता है। अस्तु! इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने यज्ञ आरम्भ करके महर्षि वसिष्ठ जी को ऋत्विज के रूप में वरण किया। वसिष्ठ जी ने निमि से कहा—राजन! इन्द्र अपने यज्ञ के लिये मुझे पहले ही वरण कर चुके हैं अतः उनका यज्ञ पूरा करके तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा तब तक मेरी प्रतीक्षा करना।

तदन्तर निमि ने यह सोचकर कि जीवन तो क्षणभंगुर है, विलम्ब करना उचित नहीं। अतः जब तक गुरु वसिष्ठ जी न लौटें, तब तक के लिए दूसरे ऋत्विजों का वरण कर लिया। लौटने पर वसिष्ठ जी को निमि का यह कृत्य अपमान जनक लगा उन्होंने शाप दिया "इसका शरीर पात हो जाए"। निमि के दृष्टि में यह शाप धर्मानुकूल नहीं था अतः उन्होंने भी शाप दिया कि आपका भी शरीर गिर जाए।

निमि आत्मविद्या (योग) में निपुण थे उन्होंने योग विधि से शरीर का त्याग कर दिया। इधर वसिष्ठ जी ने भी शरीर त्याग कर मित्रावरुण के द्वारा उर्वशी के गर्भ से जन्म ग्रहण किया।

इधर श्रेष्ठ मुनियों ने राजा के शरीर को सुगन्धित वस्तुओं में रख दिया। यज्ञ के समाप्ति में देवता लोग आये उनसे प्रार्थना किया गया कि निमि पुनः जीवित हो उठें। देवताओं ने कहा—ऐसा ही हो। विचारवान निमि ने कहा—मुझे देह का बंधन नहीं चाहिए। दुःख, शोक और भय के मूल कारण यह शरीर मुझे नहीं चाहिए। मैं मुक्त होना चाहता हूँ।

महर्षियों ने सोचा राजा के बिना अराजकता फैल जावेगी अतः निमि के शरीर का मंथन किया। उससे एक कुमार उत्पन्न हुआ। विदेह से उत्पन्न होने के कारण "वैदेह" मंथन के कारण से मिथिल नाम बालक को दिया गया। इसी परम्परा में सीरध्वज को पृथ्वी से सीता जी प्राप्त हुई थीं। वंश परम्परा में आगे केशिध्वज आत्मविद्या में बड़े प्रवीण थे—

कृतध्वजात् केशिध्वजः खाण्डिक्यस्तु मितध्वजात्।
कृतध्वजसुतो राजन्नात्मविद्याविशारदः।।20।। *अ. 13 स्क. 9*

श्री शुकदेव जी ने बताया कि वैदेह के सभी वंशज राजा ''मैथली'' कहलाते हैं। ये सब के सब आत्मज्ञान से सम्पन्न एवं गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त थे। क्यों न हो, याज्ञयवल्क आदि बड़े–बड़े योगेश्वरों की इन पर महान कृपा जो थी–

एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः।
योगेश्वरप्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि।।27।।
अ. 13 स्क. 9

नवम् स्कन्ध के चौदहवें अध्याय में चन्द्रवंश का वर्णन है। इस वंश में राजा पुरुरवा का चरित्र योग–दर्शन के सूत्र **''अभिमत् ध्यानाद्वा''** को चरितार्थ करता है। बुध और इला के गर्भ से पुरुरवा का जन्म हुआ था। इसका वर्णन पहले के लेखों में किया जा चुका है। देवर्षि नारद पुरुरवा के रूप, गुण, पराक्रम का गान इन्द्र की सभा में जिस समय कर रहे थे। उन्हें सुनकर उर्वसी के ह्रदय में कामभाव जाग उठा वह देवांङ्गना पुरुरवा के पास चली आयी। उर्वशी को देखकर पुरुरवा के शरीर में हर्ष के कारण रोमांच हो आया। राजा पुरुरवा ने उर्वशी का स्वागत् अभिनन्दन करते हुए कहा तुम मेरे साथ दीर्घ काल तक विहार करो।

उर्वशी ने दो शर्तें रखीं। पहला उसने दो भेड़ के बच्चे राजा को सौंपा और उसकी हरहाल में रक्षा करना था। दूसरा शर्त मैथुन के अतिरिक्त किसी अन्य समय में मैं आपको वस्त्रहीन नहीं देखूँ। राजा ने दोनों शर्तों का पालन करता हुआ दीर्घ काल तक उर्वशी के मोह पास में बँधा रहा। इन्द्र की प्रेरणा से गन्धर्वों ने एक रात्रि भेड़ के बच्चों को अपह्रत कर लिया। राजा उर्वशी के आदेश पर उन बच्चों को छुड़ाने नग्न ही दौड़ पड़ा, छुड़ा भी लिया परन्तु गन्धर्वों ने विद्युत प्रकाश पैदा कर उजाला कर दिया। उस उजाले में उर्वशी ने नग्न राजा को देख तुरन्त अदृश्य हो स्वर्ग चली गयी।

पुरुरवा उर्वशी के जाने से शोक विह्वल हो गये। पागलों की तरह पृथ्वी पर इधर–उधर भटकने लगे। एक दिन कुरुक्षेत्र में सरस्वती तट पर उर्वशी को राजा ने देखा। उर्वशी ने राजा को प्रबोधित किया–राजन्! स्त्रियाँ निर्दय होती हैं। क्रूरता, तनिक–सी बात में चिढ़ जाना तथा विश्वासघात करना स्वच्छन्दचारणी स्त्रियों में होता ही है। धीरज धरो। तुम राजेश्वर हो। लो मैं प्रतिवर्ष एक रात्रि तुम्हारे साथ रहूँगी। वे पूरे वर्ष उर्वशी के ध्यान में मग्न रहने लगे। इस प्रकार जब त्रेता युग का आरम्भ हुआ, तब उनके ह्रदय में तीनों वेद प्रकट हुये। पुरुरवा से ही वेदत्रयी और अग्नित्रयी का अविर्भाव हुआ। राजा पुरुरवा ने अग्नि को सन्तान

रूप से स्वीकार करके गन्धर्व लोक की प्राप्ति की—

पुरूरवस एवासीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप।
अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्व मेयिवान।।49।।

अ. 14 स्क. 9

सत्ययुग में एकमात्र प्रणव (ॐ) ही वेद था। सभी वेद शास्त्र उसी के अन्तर्भूत थे। देवता एक मात्र थे नारायण। अग्नि भी तब एक था और वर्ण केवल 'हंस' था। राजा पुरुरवा के द्वारा उर्वशी के ध्यान से उनके ह्रदय में तीनों वेद प्रकट हुए।

लेख के प्रारम्भ में ही भगवान पातंजलि के योग सूत्र अभिमत अर्थात् जो हमारे मन को पूर्णता से आकर्षित करता हो उसका ध्यान करने से सम्प्रज्ञात ज्योति अथवा योग में प्रवेश हो जाता है। उर्वशी देवराज इन्द्र की अप्सरा जिसका सम्मोहक आकर्षण पुरुरवा के मन को उठते–बैठते, चलते–फिरते, विहार करते उसी के स्मरण में लीन किये रहता था। काम जनित अनुराग पूर्ण उर्वशी का ध्यान जब वह राजा को त्याग कर देवलोक चली गयी, राजा को अन्तर्मुखी बनाने का कारक बना।

उर्वशी लोक की इच्छा से पुरुरवा ने उन तीनों अग्नियों द्वारा सर्व देवस्वरूप इन्द्रियातीत यज्ञपति भगवान् हरि का भजन किया—

तेनायजत यज्ञेशं भगवन्तमधोक्षजम्।
उर्वशीलोकमन्विच्छन् सर्वदेवमयं हरिम्।।97।।

अ. 14, स्क. 9

महाप्रभुजी के कथानकों में विस्तार से मंशामल का प्रकरण आया है। जहाँ कामाशक्ति सद्गुरु की कृपा से अध्यात्मिक परिवर्तन का कारण बना। पन्द्रहवें अध्याय में उर्वशी के गर्भ से पुरुरवा के छः पुत्रों आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय की वंश परम्परा में हुये महापुरुषों का जीवन वृत्ति भगवान् श्री शुकदेव जी ने परीक्षित को सुनाया है।

इस अध्याय में ऋचीक, ऋषि, महात्मा जमदग्नि और नारायण के अंशावतार श्रीपरशुराम जी की कथा विस्तार से वर्णित किया गया है।

योग-साधन में जप का महत्त्व

(श्री सुधाकर उपाध्याय)

शास्त्र ने कर्म के तीन भाग किए हैं (1) संचित (2) प्रारब्ध (3) क्रियमाण। जीव जब जननी के उदर में आता है, तो उसे संचित में से प्रारब्ध भोगने को मिलता है और आगे जो नया कर्म करना है, उसे क्रियमाण कहते हैं। इसमें पाप और पुण्य दोनों मिश्रित रहते हैं, परन्तु तीन ऐसे पुनीत कर्म हैं, जिनसे पाप का भुगतान जल्द करके जीव शुभ कर्मों का भागी होता है। पहला कर्म (सत्संगति) सिद्धानां संगतिः (2) जप (3) ध्यान अतः विवेक-चूड़ामणि में लिखा है-

दुर्लभ भयमेवैतद् देवानुग्रह हेतुकम्।
मनुष्यत्वस् मुमुक्षत्वं महापुरुष संश्रयः।।

इस पृथ्वी पर तीन वस्तुयें दुर्लभ हैं (1) मानव जन्म क्योंकि इसी योनि में ईश्वर का उत्कृष्ट प्रतिबिम्ब आता है (2) मुक्ति की प्रबल आकांक्षा (3) महान पुरुषों का आश्रय, ऐसे महापुरुष यदि सद्गुरु के रूप में मिलें तो उस मनुष्य के भाग्य का क्या कहना। क्योंकि महान् पुरुषों का निवास तीर्थ, उनके मुखारबिन्दु से निकले वचन शास्त्र तथा उनके आचरण ही सद्कर्म कहे जाते हैं। ऐसे दिव्यात्माओं में जाति, रूप, कुल, विद्या का भेद नहीं माना जाता, उनके देह-विस्तृत स्पन्दन से ही लोग पवित्रता से भर जाते हैं।

ऐसे सिद्ध पुरुषों के द्वारा मन्त्र ही जप के लिए उपयुक्त होता है। जप क्या है? एकान्त में बैठकर ईश्वर के नाम की सतत् पुनरावृत्ति को ही जप कहते हैं। जप के पूर्व यम, नियम, आसन और प्राणायाम तथा प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि हैं तथा जप इनकी आधार शिला है। अतः भगवान् पतंजलि देव ने **''तज्जपः तदर्थ भावनम्''** कहकर एवं भगवान व्यास देव ने गीता में जगदात्मा श्रीकृष्ण के मुख से अपना स्वरूप प्रतिपादित किया है।

''यज्ञानां जप यज्ञोस्मि'' यज्ञ में हवन होता है तो जप, यज्ञ से प्राण वायु और अपान वायु की एकरूपता के साथ प्रभु के मंगलमय विग्रह के चिन्तन में समर्पण रूप हवन होता है। जप के द्वारा वित्त की वृत्तियों को सदैव बहिरंग से अन्तर्मुखी होने में सहायता मिलती है। ''अपाने जुह्वति प्राणं प्राणापाने तथा परे'' इससे जप की उपादेयता स्पष्ट है। जप, सकाम तथा निष्काम दो रीति से किये जाते हैं।

पूजा कोटि समं स्त्रोत्तं, स्त्रोत कोटि समो जपः कहकर कुलार्णव तन्त्र में जप को पूजा

और स्तोत्र से श्रेष्ठ कहा है, भेद दृष्टि से भी जप की चार श्रेणियां कही गई हैं—

विधि यज्ञात्! जपयज्ञो

विशिष्टो दशभिः गुणैः।

उपांशः स्यात् शत गुणः

सहस्रो मानसः स्मृतः।।

क्रमोत्तर एक से एक श्रेष्ठ है, विधियज्ञ, जप यज्ञ, उपांशु और मानस जप, जिसमें होठ न हिलें, मन से जप होता रहे। आसनों पर बैठकर ही जप करना चाहिए। प्रायः सकाम जप के लिए—कृष्णाजिने भवेन्मुक्तिः मोक्ष श्री व्याघ्र चर्मणि।

कुशासने ज्ञान सिद्धि सर्व सिद्धस्तु कंबले।

कृष्ण मृग चर्म पर मुक्ति चाहने वाले, लक्ष्मी की कामना वाले वाघम्बर पर, ज्ञान के इच्छुक कुश पर तथा कम्वल पर सर्व सिद्धियों का विधि जप का विधान है उसी प्रकार निषेध भी किया गया है—

वस्त्रासने च दारिद्रम्

पाषाणे रोग संभवः।

मेदिन्यां दुःख माप्नोति

काष्ठे भवति निष्फलं।।

कहकर कपड़ा, पत्थर, भूमि और लकड़ी पर बैठने से जप पूर्ण नहीं होता। साथ-साथ जप करने के समय संख्या का ध्यान रखा गया है। सम्भव है वह प्रारम्भिक अभ्यास डालने के लिए हो, माला की संख्या 108 दाने, 54 या 2 ही होने चाहिए, माला न होने पर कर माला अभ्यास हो जाए, पर श्वास प्रति श्वास जप श्रेष्ठ है माना गया है। मन की एकाग्रता ही श्रेष्ठ है और उसी के लिए जप भी है।

माला तो कर में फिरै,

जीभ फिरै मुख माँहि।

मनुआ तो सब जग फिरै,

यह तो सुमिरन नाहि।।

कहकर कबीर दास जी ने बतलाया है कि—

सोवत जागत चलत उताने।

कहे कबीर हम एक ठिकाने।

हाँ इतना अवश्य है कि हम जिसका स्मरण कर रहे हैं उसकी तरह ही पवित्र बनकर जप करें—देवो भूत्वा देवं यजेत्। देव पूजा के पहले हमें स्वयं देवता के समान पवित्र बन जाना चाहिए, पूजा के बाद या पूजन के पहले ही जप कर लेना श्रेयस्कर है—

एकदा वा भवेत् पूजा,
न जपेत पूजनं बिना।
जप्यन्ते वा भवेत् पूजा,
पूजान्ते वा जपेन्मन्त्रम्।।

दृढ़ श्रद्धा और अडिग विश्वास के जप का होना श्रेष्ठ है क्योंकि मन्त्र का अर्थ कहा गया है ''मननात् त्रायेत् मन्त्रः'' जो मनन से ही त्राण करता है वह मन्त्र है। यथा—

मंत्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरो।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।।

उपरोक्त में भावनानुकूल ही सफलता मानी गई है उन्हें गुप्त खजाने की तरह सुरक्षित रखने की नीति भी बतलाई गई है—

योग युगति तप मन्त्र प्रभाऊ।
फुरै तवै जब करिय दुराऊ।।

नाम और नामी के उच्चारण तथा स्वरूप के चिन्तन के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी ने बहुत विशद् वर्णन किया है—

देखियत रूप नाम आधीना,
रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना।
रूप विशेष नाम विनु जाने,
करतल गत न परहिं पहचाने।
सुमिरिय नाम रूप विनु देखे,
आवत हृदय सनेह विशेषे।
नाम जीह जपि जागहिं योगी,
विरति विरंचि प्रपंच वियोगी।
साधक नाम जपहिं लव लाये,
होहिं सिद्ध अनिमादिक पाये।

अर्थ स्पष्ट ही है। नाम जप में न तो घबराहट हो न श्रद्धा में कमी पड़े, यह अध्यात्म चिन्तन है। शनैः शनैः समय पर ही फल मिलता है। यथा—

कालेन परिपच्यन्ते कृषि गर्भादयो यथा।

एवमात्म विचारोऽपि शनै कालेन पच्यते।।

दो उदाहरण देकर समझाया गया है। खेती तथा गर्भ समय पर जैसे फल देते हैं, उसी तरह आत्म विचार को भी समझना चाहिए। अतः **'दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारा सेवितो दृढ़ भूमिः'** कहकर इसी सिद्धान्त को योगोपदेष्टा ने कहा है।

जपने योग्य मन्त्रों में प्रायः प्रणव का उच्चारण किया जाता है। शावर मन्त्रों को छोड़कर, क्योंकि वे भगवान भूत भावन की कृपा से स्वतः सिद्ध हैं–

अनमिल आखर अर थ न जापू।

प्रगट प्रभाव महेश प्रतापू।।

कुछ मन्त्र स्वतः प्रणवयम हैं, राम–नाम आदि जैसे चीफ जस्टिस के किए गये फैसले स्वयं रूलिंग बन जाते हैं, उसी तरह सिद्ध पुरुषों के द्वारा निर्गत वाक्य स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। रत्नाकर ब्राह्मण होते हुए भी कन्धे पर यज्ञोपवीत तथा स्वान साथ लेकर जंगल के राह में लुटेरे का काम करते थे, परन्तु सप्तऋषियों के आदेश ने उन्हें क्या से क्या बना दिया, महर्षियों के मुख से निकले राम–राम को मरा–मरा जपते–जपते उनके शरीर पर दीमकों का ढेर लग गया। रत्नाकर से वे महर्षि वाल्मीकि हो गये। चित्त की एकाग्रता से किया गया जप सामर्थ्यवान बन जाता है। वह त्रिपुटी लग जाती है कि ध्याता में ही ध्येय के गुण, रूप का समावेश हो जाया करता है उसे अपने स्वरूप का भान ही नहीं रहता।

–यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तद्कर्मणां करोति। यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते–

यह नियम है। साधक जैसा ध्यान करता है, अन्ततोगत्वा वैसा ही हो जाता है। ध्यान से हीन माया के द्वारा दशकन्धर इसीलिए जगद्जननी जानकी के पास राम का रूप बना कर कभी न जा सका। शनैः शनैः जप की पूर्णता में मन्त्र ही देवता बन जाते हैं अन्त में मन्त्र, देवता और मन एक रूप हो जाता है। जप की पराकाष्ठा तभी समझनी चाहिए–जब

मंत्र रूपो भवेद् देवः देवरूपो गुरुः भवेत्।

गुरुरूपो भवेदात्मा, आत्मरूपो मनु भवेत्।

मन में पहुँचकर मन्त्र मनोगत, बुद्धि में बुद्धिगत होकर वृत्तियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं, जहाँ से संसार को पश्यन्नयिन पश्यति की धारा प्रवाहित होती रहती है।

हंस गायत्री श्वास प्रतिश्वास जप के विधान में वर्णित है। 21600 बार श्वास दिनभर चलता है। 24 घण्टे में जप भी इतना ही किया जाता है। हकार, सकार का लोप होने पर प्रणव

शेष भी रहता है।

हकारं सकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत्।
संधिवै पूर्ण रूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवे भवेत्।

महात्मा ब्रह्मानन्द जी ने अपने भजन में कहा है—

सोऽहं शब्द विचारो साधू,
सोऽहं शब्द विचारो रे।
माला कर ते फिरत नहीं है,
जीभ न वर्ण विचारो रे।
अजपा जाप होत घट माहीं,
ताकी ओर निहारो रे।
ह्र अक्षर ते श्वास उठाओ,
सो में जाय बिठारो रे।
हंसो उलटि होत है सोहं,
योगी जन निरधारो रे।
सब इक्कीस हजार मिलाकर,
छः सौ होत सुभारो रे।
उठत, बैठत, सोवत, जागत,
मन में जपो सुखारो रे।
जो जन चिन्तन करै निरन्तर,
छोड़ जगत व्यवहारो रे।
ब्रह्मानन्द परम पद पावै,
मिटै जन्म संसारो रे।

इस प्रकार किया गया नाम जप और नामी के स्वरूप का चिन्तन अल्पकाल में ध्यान का रूप धारण कर लेता है, जिसके द्वारा अलौकिक ध्यान जनित सुखों का अनुभव करता हुआ योगी परम पद का अधिकारी बन जाता है और जीवन का परम लक्ष्य सिद्ध हो जाता है तथा जीव कृतार्थ होकर आह्लादित हो जाता है।

श्री गुरु-महिमा

श्री रामयश उपाध्याय, कछवा (मीरजापुर)

श्री गुरु की महिमा पुराणों और शास्त्रों में गाई गयी है। श्री सद्‌गुरु की प्राप्ति पुरातन पुण्यों एवं जन्म जन्मान्तर के सम्बन्धों से ही होती है। उसकी सेवा ईश्वर की ही सेवा है, ईश्वर मौन वृत्ति है पर गुरु ईश्वर की मुखर वृति है। बिना गुरु कृपा के संसार सागर से पार होना नितान्त मुश्किल है क्योंकि श्री गुरु महाराज ज्ञान, विश्वास और भक्ति को देने वाले हैं, वैराग्य और योग की प्राप्ति भी श्री गुरु प्रसाद से ही सम्भव है, तभी तो 'सद्‌गुरु ज्ञान विराग के' योग' कहा गया है। श्री गुरु की पीपूष मयी वाणी सांसारिक विष को नष्ट करने वाली है, तथा वे ही इष्ट देव के स्वरूप भी हैं। कहा भी गया है–

नमोस्तु गुरवे तस्माद्
इष्ट देव स्वरूपिणे।
यस्य वाक्यामृतं हन्ति
विषं संसार संज्ञितम्।।

ईश्वर के रुष्ट हो जाने पर सद्‌गुरु के माध्यम से जीव की रक्षा हो सकती है पर गुरु के रुष्ट होने पर या उसका विरोध करने पर त्रैलोक्य में कोई त्राण देने वाला नहीं है जैसा कि रामचरितमानस एवं गुरु गीता में कहा है–

राखई गुरु जो कोप विधाता।
गुरु विरोध नहिं कोउ जग त्राता।
हरी रुष्टे गुरु स्त्राता
गुरौ रुष्टे न कश्चन।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन
गुरु भाराधयेद वुधः।।

सच तो यह है कि गुरु का दर्जा ईश्वर से भी बड़ा है–कबीरदास जी के सामने एक बार समस्या आ गई उनके सामने उनके गुरु और ईश्वर दोनों प्रकट हो गये। अब वे प्रथम किसको सम्मान दें, पर उन्होंने जो निर्णय लिया वह बड़ा ही यथार्थ था। उन्होंने कहा कि मैं तो पहले गुरु को ही सम्मान दूँगा क्योंकि उन्होंने ही तो ईश्वर का साक्षात्कार कराया है।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े
काके लागौं पायं।
बलिहारी गुरु आपनो
गोविन्द दियो बताय।।

गुरु की बताई हुयी सांकेतिक प्रविधि पर चल कर वे साधना के क्षेत्र को पार करते हुये सिद्धावस्था में पहुँच गये और उस अवस्था में ईश्वर स्वयं उन्हें पुकारने लगा जिसका वर्णन स्वयं उन्होंने निम्न शब्दों में किया है।

मन ऐसा निर्मल भया
जैसे गंगा नीर।
पीछे पीछे हरि फिरैं
कहत कबीर कबीर।।

हम सांसारिक प्राणियों की स्थिति ठीक उस भ्रमर जैसी है जो कमल पुष्प के मकरन्द का पान करता हुआ अस्तगत अंशुमाली के साथ बन्द हुये कमल में स्वयं बन्द हो जाता है और कष्ठ छेदन की अपनी शक्ति से विस्मृत हो सोच रहा है कि–रात बीतेगी सुहावना प्रभात आयेगा, भगवान सूर्य उदित होंगे और यह कमल खिलेगा इस प्रकार की परिकल्पनाओं में व्यस्त वह मधुप उस पुष्प के अन्दर बैठा रह जाता है तभी अर्ध रात्रि के बाद काल रूप गज उस सरोवर में क्रीड़ा के निमित्त पहुँचता है और उस पद्म–पुष्प के साथ ही भ्रमर को भी विनिष्ट कर डालता है–जैसा निम्न श्लोक में कहा गया है–

रात्रिर्गमिष्यति
भविष्यति सुप्रभातम्।
भाष्वानुदेश्यति
हंसिष्यसि पंकज श्रीः।
इत्थं विचिन्त्यति
कोश गते द्विरेफे।
हा हन्त, हन्त!
निलनी गज उज्जहार।।

इसी सन्दर्भ में गोस्वामी श्री तुलसीदास ने भी कहा है–

मोह निशा सब सोविन हारा।
देखहिं सपन अनेक प्रकारा।।

पर साथ ही गोस्वामी जी की इस परिकल्पना से हम आशान्वित हो उठते हैं–

एहि जग यामिनि जागहिं योगी।
परमस्थी प्रपंच वियोगी।।
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा।
अकथ अनामय नाम न रूपा।।

तो ये अकारण करुणा वरुणालय योगी भी यदा कदा अर्ध रात्रि के पश्चात् ब्रह्म मुहूर्त में स्नान हेतु सरोवर में पहुँचते हैं और स्नान के बाद अपने इष्ट स्वरूप परम प्रभु के चरणों में समर्पित करने के लिए उस अलियुत बन्द कमल पुष्प को लाते हैं।

प्रभु के पादारविन्दों में अर्पित अरविन्द भुवन भास्कर की कनक मयी किरणों के साथ जब विकसित होता है तो उसमें से निकला हुआ चंचरीक कोटि–कोटि कन्दर्प की शोभा को विलज्जित करने वाली नयनाभिराम परम लावण्यमयी महा प्रभु की मनोरमा सुषमा को देख आनन्द विभोर हो उठता है। साथ ही उसका कल्याण भी हो जाता है।

ज्ञान स्वरूप गुरु ही सदाशिव हैं और कल्याण स्वरूप सदाशिव ही सद्गुरु हैं जिनके सहारे वक्र शशांक भी वन्दनीय हो जाता है

वंदे बोध मयं मित्यं
गुरु शंकर रूपपिणम्।
यमाश्रितोहि वक्रोऽपि
चन्द्रः सर्वत्र वन्दते।।

श्री गुरु में मानव बुद्धि रखना अपनी ही अज्ञानता है। शास्त्रों ने स्पष्ट किया है कि गुरु सत्ता ही ईश्वर सत्ता है अतः उसमें ईश्वरत्व दर्शन होता है। श्री अग्रदास जी ने भी इसे अपने शब्दों में उसे इस तरह व्यक्त किया है–

गुरुन विषे नर बुद्धि शिला
सम गनै विष्णुतन।
चरणामृत जल जान
मंत्र वदै बानी सम।।
महा प्रसाद हि अन्न
साधु की जाति पिछाने।
ते नर नरकै जायं
वेद स्मृती बखाने।।

अग्र कहे यह पाप पट

अति मोटो दुर्घट विकट।

और पाप सब छुटै पैहून

मिटैं हरि नाम रट।।

गुरु हमें अज्ञान तम से निकाल ज्ञान के प्रकाश के शाश्वत् राज्य में पहुँचा देता है। उसकी वाणी भी मोहान्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य की किरणों के समान है। गुरु शब्दार्थ भी तो यही है–

''गु शब्द स्त्वन्धकारः–

स्याद्रू शब्द स्तन्निरोधकः।

अन्धकार निरोधित्वाद्–

गुरु रित्यभिधीयते।।

बन्दौ गुरु पद कंज,

कृपासिन्धु नर रूप हरि।

महामोह तम पुंज

जासु बचन रविशंकर निकर।।

सर्व देवों के रूप में गुरु का दर्शन होना साधना की उच्चावस्था है कहा भी गया है–

आचार्य मां विजानी–

यान्नावमन्येत्कर्हिचित्।

न मर्त्य बुद्धया ऽसूयेत–

सर्वदेव मयो गुरुः।।

श्री रामचरितमानस में सर्वत्र गुरु की महिमा का वर्णन है एकाध, प्रसंग नीचे उद्धृत किया जाता है।

एक बार भगवती महिमामयी जगदम्बा उमा ने भगवान शिव से संसार के प्राणियों की हित कामना को लेकर प्रश्न किया कि महाराज! यदि ईश्वर सर्वत्र है तो लोग उसे देख क्यों नहीं पाते? भगवान कह सकते थे कि ईश्वर चर्म चक्षुओं से कहीं दिखाई नहीं पड़ता या ईश्वर को देखने के लिए लोगों के पास दृष्टि ही नहीं है, पर उन्होंने इन बातों को कहते हुए एक अद्‌भुत वाक्य जोड़ दिया, उन्होंने कहा–

मुकुर मलिन अरु नयन विहीना।

राम रूप देखहिं किमि दीना।।

अभी तक ऐसा समझा जाता है कि अपने को देखना सरल है और दूसरों को देखना कठिन होता है लेकिन बात उल्टी हुई, दूसरों के देखने के लिए केवल दृष्टि की आवश्यकता भर, परन्तु अपने को देखने के लिए दृष्टि और दर्पण दोनों की ही आवश्यकता है। दृष्टि के अभाव में व्यक्ति अपने को नहीं देख सकता और दृष्टि रहते हुए भी अपने को देखने हेतु दर्पण आवश्यक है, अगर दृष्टि भी हो, दर्पण भी हो तो भी दर्पण के गन्दा होने पर व्यक्ति स्वयं को नहीं देख पाता। दृष्टि वाला अपने स्वरूप को देखने के लिए नितान्त मलिन दर्पण को धूल के कणों से, जल से व कपड़े से जब साफ करता है तो उसका शारीरिक स्वरूप उसमें परिलक्षित होने लगता है। श्री राम चरितमानस में कवि कुल चूड़ामणि गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने इस मन को ही दर्पण बताया है, पर मन संस्कारी वासनाओं से इतना धुँधला हो गया है कि उसमें स्वरूप दर्शन करना अत्यन्त दुर्लभ है, तब उन्होंने इस मन मुकुर की स्वच्छता के लिए जिन रज कणों का वर्णन किया जो वास्तव में अत्यन्त वास्तविक है। यह रज–कण हम सभी के मन को हमेशा स्वच्छ करते रहें यही प्रभु से याचना है, उन्होंने कहा है–

श्रीगुरुचरण सरोज रज,
निज मन मुकुर सुधारि।।

शोक संवेदना

1. अत्यन्त दुःख के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि बरहन निवासी श्री ठा. महीपाल सिंह का 3 अक्टूबर को देहावसान हो गया है। इस दुःख की बेला में हम दुःखी परिवार को अपनी हार्दिक संवेदना प्रेषित करते हैं। प्रभुजी दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करें।
2. श्री केशवदेव उपाध्याय जी की धर्मपत्नी का भी देहावसान अक्टूबर प्रथम सप्ताह में हो गया है। श्री प्रभुजी उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें।
3. इलाहाबाद निवासी राम संजीवन सिंह का भी अक्टूबर प्रथम सप्ताह में देहावसान हो गया है। प्रभुजी उन्हें शान्ति प्रदान करें।

–संपादक
'सिद्धयोग' संवाई, आगरा

गुरुदेव का योग प्रचार कार्यक्रम

प्रेषक—अशोक शर्मा, दिल्ली

गुरुदेव का योग–प्रचार कार्यक्रम अबाध रूप से एक स्थान पर चल रहा था। व्याख्यान में एक दिन गुरुदेव ने कहा कि योग विद्या सार्वभौम विद्या है। इसको हर व्यक्ति कर सकता है। हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, पारसी आदि किसी का भी भेदभाव इसके अन्दर नहीं है। अधिकारी भेद से सभी योगाभ्यास कर सकते हैं। गुरुजी ने तो सरल चित्त होकर यह बात कह दी। उन्होंने योग विद्या को भूमण्डल के प्राणीमात्र के लिए बतला दिया। उनके कहने का यह अर्थ तो नहीं था कि उस विषय में वे मृदु, मध्य, अधिमात्रतम आदि भेदों को भी नष्ट–भ्रष्ट कर देंगे। किन्तु मुण्डे–मुण्डे मतिर्भिन्ना के अनुसार हर एक प्राणी के मस्तिष्क में न्यारी–न्यारी मतियाँ होती हैं। गुरुजी के व्याख्यान को श्रवण करके, उनको सरल चित्त समझकर, कुछ उच्छृंखल स्वभाव के व्यक्तियों ने गाँव के भोले–भाले कुछ ऐसे व्यक्तियों को तैयार किया जो निम्न श्रेणी के थे। विद्याहीन एवं वासना–भोगी थे। जिनका परम्परागत कार्य निकृष्टतम था। वे सभी लोग अपनी झाड़ू और टोकरियों को उठाकर कार्यक्रम स्थल पर पहुँच गये और गुरुजी से कहा—महाराज जी! कल आपका व्याख्यान हमने सुना और सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन सभी ने गुरुजी द्वारा कथित योग विद्या पर प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार विषयक बात कहकर स्वयं को योगाभ्यास का इच्छुक बताया। गुरुजी ने उत्तर दिया—ठीक है हमें बड़ी प्रसन्नता है। तुम लोग वट–वृक्ष के नीचे बैठकर एकाग्र चित्त होकर

'हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।

कलिसंतराणोपनिषद में वर्णित इस महामंत्र का दो घंटे अनवरत जप करो। इस प्रकार जप करने से तुम शनैः शनैः उच्चतम योग शिक्षा के अधिकारी बन जाओगे। किन्तु वे वस्तुतः योग शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा से तो आये नहीं थे। उन लोगों का लक्ष्य तो केवलमात्र इतना ही था कि देखें गुरुजी योगोपदेश करेंगे भी या नहीं। जब उन लोगों को इस महामंत्र का उपदेश दिया गया तो उन्होंने उत्तर दिया कि यह राम–राम का मंत्र तो हम पहले से ही जानते हैं और सारा संसार जानता है। हम तो उस योग का अभ्यास करेंगे जिस योग का अभ्यास उच्च वर्णों में पैदा होने वाले आपके शिष्य व ब्रह्मचारी कर रहे हैं। गुरुजी उनकी मनोवृत्ति को

पहचान गये और ज्ञानीराम जी और एक–दो को बुलाकर और बद्ध पद्मासन लगवाकर उनके सामने बिठा दिया और कह दिया कि भाई ठीक है, जो ये लोग अभ्यास कर रहे हैं वही अभ्यास तुम भी करो। अपने पादतलों को उठाकर अपनी जंघा पर जमाओ। और उस जमे हुए पैर पर अपने दूसरे पैर के पादतल को लाकर जंघा पर जमाओ। अपने दोनों हाथों को पीठ के पीछे से घुमाकर बाँये हाथ से दाहिने पैर के अँगूठे को, और दाहिने हाथ से बाँये पैर के अँगूठे को पकड़ लो। मेरुदण्ड को सीधा रखकर बैठे रहो। इससे तुम्हारा यह आसन सिद्ध हो जायेगा और तुम्हारा ध्यानाभ्यास बनने लगेगा।

जब उन लोगों ने वह आसन करने की चेष्टा की तो सभी निष्फल रहे और अपने ही मुख से कह उठे कि महाराज जी! यह तो हमारे मतलब की चीज नहीं है। जो वस्तु हमारे योग्य हो उसी का उपदेश देने की कृपा करें। अन्ततः वे स्वयं ही इस निर्णय पर आ गये कि उनके लिए यही श्रेष्ठ है कि चे लोग बैठकर कुछ समय तक–

'हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।

इस षोडशाक्षर महामंत्र का जाप किया करें। थोड़े दिन के पश्चात् सद्‌गुरुदेव जी की कृपा और अभ्यास के फलस्वरूप शनैः शनैः उनके मनों के अन्दर एकाग्रता आने लगी और वे लोग ध्यानाभ्यासी बन गये। अन्तरानुभूति प्रारम्भ हो गयी।

संसार सिंह को अधिकारी पाकर सद्‌गुरुदेव भगवान ने प्राणायाम की साधना में लगाकर योग के लक्ष्य को प्राप्त करने की साधना करायी।

आदरणीय श्याम बिहारी शुक्ल, श्री ईश्वरी प्रसाद खड्डर, बरैनी के महेन्द्र नारायण सिंह, मास्टर हरप्रसाद जी को त्राटक और अनेक साधकों को उनकी योग्यतानुसार योगाभ्यास कराया। इसमें से कुछ का वर्णन जिनका मैंने अपने जीवन में सानिध्य प्राप्त किया उनका वर्णन क्रमशः लेखों में किया जायेगा।

श्री सिद्धयोग आश्रम बनारस (टोडरपुर) में

पंचम योग शिविर का आयोजन

प्रेषक–हेमराज चोपड़ा

भगवत्कृपा से श्री सिद्धयोग आश्रम बनारस (टोडरपुर) में श्री सिद्धगुफा संवाई के व्यवस्थापक योगाचार्य डॉ. दासलाल जी की अध्यक्षता में पंचम विशाल योग शिविर का (12 से 15 अक्टूबर 2017 तक) आयोजन किया गया।

श्री सिद्धगुफा संवाई के तत्वाधान में आयोजित योग शिविरों की निम्नलिखित विशेषताएं रहती हैं–

1. यह निःशुल्क होते हैं। इसमें सम्मिलित होने वालों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता।
2. इनमें योग पर विशेष बल दिया जाता है। योग–ध्यान की प्रक्रिया बहुत सूक्ष्मता से समझाई जाती हैं और करवाई जाती हैं।
3. शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी आसन करवाए जाते हैं और प्रत्येक आसन का लाभ समझाया जाता है।
4. प्राणायाम प्रक्रिया विस्तार से समझाई तथा करवाई जाती है।

इन्हीं विशेषताओं पर आधारित यह चार दिवसीय योग शिविर भी था। इस बार के शिविर की विशेषता यह थी कि अढ़ाई से तीन हजार साधकों ने इसमें भाग लिया। हिमाचल प्रदेश (मण्डी) से ही 70–80 साधकों के अतिरिक्त हरियाणा, रायबरेली, सहारनपुर, लखनऊ, गंगापुर सिटी, बलिया, बिहार, इत्यादि स्थानों से सैंकड़ों गुरु भाई बहिन इसमें सम्मिलित हुए। बनारस में कृपा सागर, करुणा निधान सद्गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के समय से ही प्रतिवर्ष माघ मेला के दौरान पंच दिवसीय योग शिविर लगता रहा है। इसी परम्परा का निर्वहन करते हुए आचार्य जी के तत्वाधान में यह योग शिविर 12 से 15 अक्टूबर तक आयोजित किया गया।

इसमें प्रतिदिन प्रातःकाल 5 बजे आरती एवं उसके तुरन्त बाद ध्यान क्लास लगती रही

जो 6:30 बजे तक रहती। 6:30 से 7:30 बजे का समय योग आसनों का रहा। इसमें योगाचार्य जी स्वयं अपनी देखरेख में जीवन तत्व साधन एवं अन्य खड़े होकर बैठकर व लेटकर करने वाले आसन, उनसे होने वाले लाभ समझाकर करवाते रहे। 7:30 से 8 बजे का समय अम्बाला से आए गुरुभक्त ब्रह्मचारी वीरेन्द्र स्वरूप का रहता था जो इसमें विभिन्न प्रकार के प्राणायाम व उनसे होने वाले लाभ विधिवत् समझा कर करवाते।

प्रातः 9 बजे से 11 बजे तक श्री सद्गुरुदेव जी की आरती एवं तत्पश्चात् गीता पाठ करवाया जाता। इन दिनों श्रीमद्भगवद् गीता के प्रथम चार अध्यायों के प्रत्येक श्लोक की विधिवत् व्याख्या, उसका अर्थ एवं इसमें छिपे गूढ़ रहस्य को आचार्य जी द्वारा विस्तार से समझाया गया। प्रथम अध्याय में अर्जुन के अपने स्वजन बन्धु बांधवों के विरुद्ध युद्ध करने में अपने को असमर्थ पाने व युद्ध की विभीषिकाओं को ध्यान में रखकर जब उसके मन में विषाद उत्पन्न हो गया तो योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने पहले तो उसे यही समझाया कि केवल यह शरीर नाशवान है। आत्मा इससे अलग है व इसका नाश नहीं होता। तुम्हारा यह सोचना कि तुम इन्हें मारोगे यह सही नहीं है क्योंकि यह शरीर नाशवान है। यदि तुम इन अधर्म का आचरण करने वाले कौरवों व उनका साथ देने वालों को नहीं मारोगे तो ये तब भी कालान्तर में मृत्यु को प्राप्त होंगे इसलिए तुम इन्हें मारकर पृथ्वी पर राज्य सुख का उपभोग करो। और अपने क्षत्रिय धर्म का पालन करो।

आचार्य जी ने सरल शब्दों में बतलाया कि किस प्रकार एक योगी को अपने सभी कर्म इस प्रकार करने चाहिए कि उनमें अपने कर्तापन का अभिमान न हो। क्योंकि शास्त्र विहित कर्म तो करने चाहिए किन्तु उनमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिए क्योंकि यह आसक्ति कर्म बन्धनों में बांधने वाली है। इस आसक्ति से मुक्त होना सहज नहीं है इसके लिए अपनी इन्द्रियों को अपने वश में करना आवश्यक है इनमें भी काम प्रमुख है। इस शत्रु का नाश करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त श्री आचार्य जी ने योग मार्ग पर अग्रसर होने के लिए अधिक से अधिक मंत्र जप करने पर बल दिया। कम से कम 1½ घंटा प्रतिदिन मंत्र जप करना आवश्यक बताया। जब साधक नियमपूर्वक मंत्र जपना जारी रखेगा तो उसे देव दर्शन होने प्रारम्भ हो जायेंगे और उसके कठिन से कठिन कार्य गुरुदेव कृपा से स्वतः ही होने प्रारम्भ हो जायेंगे। उसका ध्यान लगने लगेगा। ध्यान से पापों के पहाड़ के पहाड़ भी ध्वस्त हो जाते हैं। लेकिन यह तभी सम्भव है यदि साधक नियमपूर्वक दीर्घकाल तक ध्यान का अभ्यास करता रहे।

अम्बाला से आए ब्रह्मचारी डॉ. वीरेन्द्र स्वरूप जी ने उपनिषद, पुराणों का आश्रय लेकर

प्राणायाम की महत्ता समझाई व इनका अभ्यास कराया। इसके साथ ही अनेक भाई–बहिनों को जलनेति सूत्र नेति का अभ्यास कराया। कुछ भाइयों की कोष्ठ–बद्धता का निदान शंख–प्रक्षालन विधि द्वारा किया गया। गुरुभक्ति पर उन्होंने विधिवत् प्रकाश डाला और गुरु कृपा प्राप्त करने के उपाय बतलाए।

गोरखपुर से आए डॉ. विजय सिंह जी ने अपने भावपूर्ण प्रवचनों द्वारा सद्गुरुदेव महाराज के साथ बिताए अपने जीवन के सुखद क्षणों का जिक्र किया। किस प्रकार कृपा–निधान सद्गुरुदेव महाराज हर समय अपने बच्चों की रक्षा करते हैं, यह विस्तार से बतलाया।

14 अक्टूबर को योग सिद्ध आश्रम, मण्डी के प्रधानाचार्य श्री हरिसिंह द्वारा बोडरपुर (बनारस) आश्रम के अध्यक्ष रामशरण सिंह को आश्रम के प्रति उनकी अथक सेवाओं के लिए मण्डी आश्रम की ओर से करतल ध्वनि के बीच सम्मानित किया। यह उनके भागीरथ प्रयत्न व अपने सहयोगियों को साथ लेकर कार्य करने की कुशलता का परिणाम है कि आज यह आश्रम विशाल व सुन्दर रूप में आज सबके समक्ष है। श्री हरिसिंह ने साथ ही उनका आभार व्यक्त किया कि उन्होंने सभी आगंतुकों विशेषकर मंडी से आए गुरु भाई बहिनों के ठहरने इत्यादि की सुन्दर व्यवस्था की। उन्होंने परम कृपालु भक्त वत्सल अपने सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के समय के कुछ संस्मरण अत्यन्त भावपूर्ण अंदाज में सबके साथ साझा किये। इस प्रकार यह भव्य कार्यक्रम 15 अक्टूबर को सायंकाल की आरती, प्रसाद वितरण के साथ ही धूमधाम से सम्पन्न हुआ।

शोक संवेदना

बड़े दुःख की बात है कि आश्रम का एक सेवक महात्मा योगेन्द्र गिरि का सड़क दुर्घटना में देहावसान 18 अक्टूबर को हो गया है। वह कुछ वर्षों से मानसिक रोग से भी पीड़ित रहता था और चिकित्सा भी चल रही थी।

वह महाराष्ट्र में नागपुर के पास बेल्तुर का रहने वाला था। श्री प्रभु जी उसकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें व सद्गति दें।

शोकाकुल

आश्रम के सभी साधकगण

श्री सिद्ध गुफा संवाई, आगरा

परमात्मा ही जीवात्मा का सत्यस्वरूप है

(डॉ. ऋषिराम शर्मा, सेवानिवृत प्राचार्य, बी.एच.यू.)

प्रत्येक मानव के मस्तिष्क में यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि मैं कौन हूँ? मेरा उद्भव कहाँ हुआ है और मृत्यु के पश्चात् मैं कहाँ चला जाऊँगा? क्या जन्म–मरण मेरी अवश्यंभावी नियति है। जब तक इन मूल प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल जाता, तब तक न शांति है, न विश्राम है और न दुःखों से मुक्ति है। इस विषय पर भिन्न–भिन्न धर्मों का दृष्टिकोण भी भिन्न–भिन्न है। इस्लाम धर्म में जीव का विश्राम–स्थल जन्नत या जहन्नुम है। जो बन्दा खुदा का प्यारा है उसे जन्नत में स्थान मिलता है और जो खुदा का प्यारा नहीं है उसे मृत्यु के बाद जहन्नुम में स्थान मिलता है। ईसाई धर्म के अनुसार भी अच्छे कर्म करने वाले हैविन में स्थान पाते हैं और पाप कर्मी हैल में स्थान पाते हैं। इसके अतिरिक्त जन्म से पूर्व जीव कहाँ था और मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग तथा नरक के अतिरिक्त अन्य भी उच्च गाम्य स्थान हैं। इसका उन्हें ज्ञान नहीं है। जीवात्मा में परमात्मा का पूर्ण ऐश्वर्य छुपा है और उसे प्राप्त किया जा सकता है। इसका भी उन्हें कोई ज्ञान नहीं। सनातन धर्म में स्वर्ग या नरक जीवात्मा की यात्रा के अंतिम विश्राम–स्थल नहीं, अपितु लम्बे मार्ग की दो शाखाओं के पड़ाव मात्र हैं। इन समस्त दृष्टिकोणों में मूल प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं है।

सनातन धर्म के शास्त्रों में इन प्रश्नों का विवेचन तथा विश्लेषण किया गया है किन्तु वह शब्द ज्ञान है और वह प्रत्यक्ष अनुभूति के अभाव में सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि–

न गच्छति विना पानं व्याधिमौषधशब्दतः।
विना अपरोक्षानुभवं शब्दज्ञानेन न मुच्यते।।

अर्थात् जैसे कोई औषधि किसी रोग विशेष के लिए रामबाण ही क्यों न हो किन्तु उसका सेवन किये बिना केवल उसका नाम उच्चारण करने से रोग दूर नहीं होता उसी प्रकार जब तक दृष्टा तथा दृश्य के प्रथक्करण का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो जाता तब तक शब्दज्ञान मात्र से जीवात्मा को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः दृष्टा तथा दृश्य का संयोग ही संसार

का कारण है और प्रज्ञालोक की ज्ञानदीप्ति द्वारा इसका पर्दाफाश होते ही दृष्टा अपने सत्यस्वरूप में स्थित हो जाता है। उसी को भवबन्धन से मुक्ति कहा जाता है। भगवान कृष्ण ने इसी तथ्य की पुष्टि की है कि

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमहि विद्यते।
तत्स्वयंयोगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। *(गीता 4/38)*

अर्थात् ज्ञान के समान अन्य कोई भी वस्तु या साधना पवित्र नहीं किन्तु वह तभी सार्थक होता है जब चिरकाल तक योगसाधना द्वारा योगसिद्धि प्राप्त नहीं कर ली जाती। उपनिषदों में इसी सिद्धान्त को हृदयग्रन्थी के छेदन के रूप में वर्णन किया है–

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते सर्वकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

अर्थात् दृष्टा और दृश्य के संयोग वाली हृदयग्रन्थि का जब छेदन हो जाता है यानि जब वृतिरूप दृश्य का अभाव हो जाता है तो दृष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और तब अविद्या द्वारा जनित समस्त संशय और क्लेश–कर्म नष्ट हो जाते हैं।

योगसिद्धि कैसे प्राप्त होती है, यह विषय हम आगे के लेखों में लेंगे, अभी हम शब्दज्ञान की ही चर्चा करेंगे। मेरी दृष्टि में वेदों, उपनिषदों तथा महापुरुषों द्वारा रचित अन्य शास्त्रों में इसका विस्तार से वर्णन है किन्तु जनसाधारण की पहुँच के बाहर है। प्रभुकृपा से प्राप्त गीता का ज्ञान सभी शास्त्रों का सार है तथा गीताप्रेस की महान सेवा से सुलभ भी है। अतः हम अपने प्रश्नों का उत्तर सुलभ शास्त्रों में खोजेंगे।

भगवान् कृष्ण ने स्वयं स्वीकार किया है कि–

आत्मात्मा गुड़ाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्तैव च।।

अर्थात् समस्त जीवात्माओं की अन्तरात्मा के रूप में मैं ही हूँ। ऐसी जीवात्माओं का उत्पत्ति स्थान, उनका वर्तमान तथा उनका अन्तिम विश्राम–स्थल भी मैं ही हूँ। उपनिषद् भी इसकी पुष्टि करते हैं कि–

ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवोऽब्रह्मैव नापरः

अर्थात् केवल परमात्मा ही परम सत्य है और नाम तथा रूप वाला दृष्टिगोचर जगत् स्वप्नवत् मिथ्या है, क्योंकि स्वप्न निद्रावरण के कारण सत्य भाषित होता है और निद्रावरण के हटते ही मिथ्या हो जाता है। उसी प्रकार यह जगत भी अविद्या के आवरण में सत्य भाषित होता है और अविद्या के अभाव में नष्ट हो जाता है यानि ज्ञानी की दृष्टि में मिथ्या तथा अज्ञानी की

दृष्टि में सत्य भाषित होता है। जीवात्मा का जीवभाव अविद्या जनित है। अतः अविद्यावरण के दूर होते ही जीवभाव उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार अन्धकार के कारण रज्जु में सर्पभ्रान्ति तथा सर्पभय अन्धकार के अभाव में स्वतः नष्ट हो जाते हैं। जीवभाव के नष्ट होते ही जीवात्मा तथा परमात्मा उसी प्रकार एकात्मता को प्राप्त कर लेते हैं जिस प्रकार घट के नष्ट हो जाने पर घटाकाश तथा महाकाश में एकात्मता हो जाती है। गीता में भगवान कृष्ण ने इसी एकात्मता को इस प्रकार दर्शाया है कि–

उपदृष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ताः महेश्वरः।
परमात्मेति चप्युक्तो देहे अस्मिन् पुरुषः परः।। *(गीता 13/22)*

अर्थात् ज्ञानदृष्टि से देखा जाये तो वास्तव में इस शरीर में वास करने वाला जीवात्मा परमात्मा का ही प्रतिबिम्ब है जो तमोगुण तथा रजोगुण के आवरण के कारण अपने असली स्वरूप को प्रदर्शित नहीं कर रहा है। वस्तुतः वही परमात्मा इस शरीर में उपदृष्टा के रूप में विराजमान हैं जो कि मन तथा बुद्धि की सभी वृत्तियों का साक्षित्व करता है और उन सब का सदैव ज्ञाता है। वही परमात्मा अनुमन्ता भी है जो कि प्रकृति द्वारा संचालित कर्मफल के विधान को अपनी स्वीकृति प्रदान करते हैं। वही परमात्मा अपनी योगमाया के सहयोग से सभी शरीरधारियों का भरण–पोषण करते हैं। वही सब लोकों का स्वामी परमात्मा जीवात्मा के रूप में अपनी ही प्रकृति के गुणों का सुख–दुख के रूप में भोग कर रहा है। जीवात्मा में संसारित्व अज्ञान की देन है। इसीलिए भगवान कृष्ण कहते हैं कि–

नादत्ते कश्चित् पापं न चैव सुक्रतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ते जन्तवः।।

अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा न पाप ग्रहण करता है और न पुण्य। अतः जीवों का कर्म–बन्धन केवल अज्ञानमात्र है जिसके कारण सभी जीव अपने को मोहमाया में फंसा हुआ मानते हैं। जब तक जीवात्मा जीवभाव रूप घटाकाश में सीमित है, तभी तब उसमें संसारित्व है। अविद्या रूपी घट के नष्ट हो जाने पर घटाकाश स्वतः ही महाकाश में समा जाता है, यानि जीव भाव के नष्ट होने पर जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है। यही उसका सत्यस्वरूप है। अब मैं बताना चाहूँगा कि जीवात्मा में यह संसारित्व आया कहाँ से है और इसका नाश किस तरह किया जा सकता है? भगवान पतंजलि ने पाँच क्लेशों को जीवभाव का मूल कारण बताया है। यह पाँच क्लेश प्रकृति के तीन गुणों के विकार हैं। यह सूक्ष्म हैं तथा इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि की वृतियों के रूप में प्रकट होते हैं। यद्यपि आत्मा परम शुद्ध है तथा इन वृतियों का ज्ञाता है किन्तु योगमाया की यह विलक्षणता है कि आत्मा स्वयं अपने आपको वृतियों के रूप में ही

देखता है और इसी कारण पाँच क्लेशों की तीव्र धार में बहता चला जाता है। इनके प्रभाव से बचने के लिए अन्तःकरण को तीन परिणामों पर विजय पाकर शुद्ध करना पड़ता है। चित्त के यह तीन परिणाम हैं **एकाग्रता परिणाम, समाधि परिणाम** तथा **निरोध परिणाम**। इनका वर्णन बाद में करेंगे। पहले हम क्लेशों को समझने का प्रयास करेंगे। अविद्या अन्य क्लेशों की जन्मभूमि है और यह क्लेश चार अवस्थाओं में रहकर अपना खेल खेलते हैं। पहली अवस्था का नाम **सुप्तावस्था** है। इसमें क्लेश बीज रूप में गुप्त रहता है, प्रत्यक्ष में प्रतीत नहीं होता जिसके कारण मिथ्या अहंकार हो जाता है। श्री नारद मुनि का काम पर विजय पाने का अहंकार इसी का परिणाम था। दूसरी अवस्था है **तनुअवस्था**। इसमें तपस्या, साधना तथा स्वाध्याय के परिणामस्वरूप क्लेश क्षीण हो जाते हैं और उनका प्रभाव क्षणिक तथा उपद्रवहीन होता है, तीसरी अवस्था है **विच्छिन्नावस्था**। इसमें कभी शान्त कभी उग्ररूप धारण कर लेते हैं। चौथी अवस्था है **उदारावस्था**। इसमें पूर्णरूप से क्रियाशील एवं बुद्धि पर मलावरण डाल देते हैं। उसी अज्ञान के आवरण से जीवात्मा संसार में मोहित हो जाता है। अविद्या का शाब्दिक अर्थ विपरीत ज्ञान है, यानि अनित्य में नित्यबुद्धि, दुःख में सुखबुद्धि, अशुद्धि में शुद्धि बुद्धि तथा अनात्मा में आत्मबुद्धि जैसे संसार की प्रत्येक वस्तु नाशवान है और परिवर्तनशील है, फिर भी पुत्र की मृत्यु पर पीड़ा, सम्पत्ति नष्ट होने पर पीड़ा। इतना ही नहीं कि एक ही घटना से अत्यन्त खुशी तथा पीड़ा का अनुभव। जैसे वर्ल्ड टावर की घटना से लाखों को पीड़ा तथा ओसामा बिन लादेन और उसके समर्थकों को हर्षोल्लास का अनुभव। इसी प्रकार ऊपर चर्म से ढके शरीर में अशुद्धि ही अशुद्धि भरी है फिर भी सुन्दर मानी जाने वाली युवती के लिए हजारों की हत्या हो जाती है, अनेक राजाओं में युद्ध हो जाता है। सभी इस तथ्य से परिचित हैं कि पदार्थ में कोई स्वाद या सुख–दुख नहीं, अन्यथा स्वप्नावस्था में पदार्थ की अनुपस्थिति में कोई स्वाद तथा आनन्द का अनुभव संभव नहीं होना चाहिए था। एक कुत्ते को हड्डी में से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। वह उसे वर्षों भी चाटता रहे तब भी हड्डी वैसे ही रहेगी फिर भी वह उसके लिए अपनी जान पर खेलकर भी अन्य कुत्तों से लड़ता है जैसे कि उसे उसमें सुख का भंडार मिल गया हो। इसी प्रकार यदि कोई तुम्हारा रूप देखकर और तुम्हारा नाम लेकर गाली दे या अपमान करे, या मार–पिटाई भी करे तो तुम क्रोध से जलने लगते हो जबकि नाम तथा रूप जड़ है और वह तुम नहीं हो। तुमने अनात्मा को ही आत्मा समझा हुआ है। यह सब अविद्या के परिणाम हैं।

दूसरा क्लेश है **अस्मिता**। इसमें आत्मा और दर्शन शक्तियों यानि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, मन तथा बुद्धि की एकात्मता का अनुभव होता है। जैसे आँख कोई वस्तु देखती है तो तुम समझते

हो कि मैं देख रहा हूँ। मन दुःखी होता है तो तुम दुखी हो जाते हो जबकि **''दुखादयः यो मनसोः विकाराः''** वाली बात उपनिषदों में विस्तार से वर्णित है। इस प्रकार मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों में निरन्तर जितनी वृत्तियाँ उठती हैं, वह सब आत्मा में प्रतीत होती हैं जबकि भगवान कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कहा है कि–

यथा सर्वगतं सौक्ष्मादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।

अर्थात् जिस प्रकार आकाश में लाखों घटनायें घटती हैं, लाखों विस्फोट होते हैं, ज्वालामुखी फटते हैं किन्तु उनसे आकाश में न तो कोई विकार आता है और न कुछ घटता या बढ़ता है। अनेक तारागण, उपग्रह आदि प्रकट होते हैं, नष्ट भी हो जाते हैं किन्तु वह निर्विकारी ही रहता है। इसी प्रकार शरीर के अंग प्रत्यंग में व्याप्त आत्मा भी मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों की वृत्तियों से विकारी नहीं होती किन्तु **''दृष्टा दृशिमात्रो शुद्धोऽपि प्रत्यानुपश्यः''** के अनुसार आत्मा परमशुद्ध तथा साक्षीमात्र है, फिर भी मस्तिष्क में उठने वाली वृत्तियाँ उसमें उसी प्रकार दिखाई देती हैं जैसे रंगीन तथा चित्रित माध्यम पर रखी हुई स्फटिक मणि में माध्यम के रंग तथा चित्र दिखाई देते हैं।

तीसरा क्लेश **राग** है। जब कोई भी इन्द्रियवृत्ति मन को अच्छी लगती है यानि सुखानुभव कराती है तब तुरन्त उसमें मन की आसक्ति हो जाती है, उसे पाने की तृष्णा तथा आकर्षण उत्पन्न होना ही राग है। इसी प्रकार जब मन के प्रतिकूल इन्द्रियवृत्ति पैदा होती है तो उससे द्वेष या क्लेश पैदा होता है जो दुःखरूप है। इन्हीं राग और द्वेष रूपी दो समानशक्ति तथा विपरीत दिशा वाले बलों से माया का चक्र बनता है। पाँचवें क्लेश का नाम **अभिनिवेश** है। यह सभी जीवों में जीवित बने रहने की भावना है। इसी को मृत्युभय भी कहा है। प्रत्येक जीवात्मा चाहती है कि उसकी कभी मृत्यु न हो। उसका कारण है उसकी संसार में आसक्ति। जब तक यह पाँच क्लेश किसी न किसी अपनी अवस्था में विद्यमान रहते हैं तब तक जीव माया के बन्धन में है। जैसे ही इन पर विजय प्राप्त हो जाती है, वह मोक्ष पा जाता है। अष्टावक्र जी ने राजा जनक को यही रहस्य सूक्ष्म में समझाया–

यदि देहं प्रथक्कृत्य चिदि विश्रम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शन्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि।।

अर्थात् हे राजन्, यदि तुम चित्त को समाहित करने की योग्यता प्राप्त कर अपने को शरीर से पृथक् कर अस्मिता क्लेश से मुक्ति पा लो और अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित हो जाओ तो तुम इसी क्षण परम सुखी, परम शान्त और माया के बन्धन से मुक्त हो जाओगे।

यह पाँच क्लेश कर्माशय को जन्म देते हैं। यह कर्माशय जीव द्वारा शरीर बुद्धि के अहंकार से होने वाले कर्मरूपी जल का समुद्र है जिसमें अनन्त जन्मों के कर्मों के संस्कार संचित हैं और अतीत, आगामी और वर्तमान जन्मों का एकमात्र कारण है। यह जन्म कैसे होते हैं इस पर शास्त्र का वचन है कि–

यादृशी वासनामूले वर्तते जीवसंगिनी।

तादृशं वहत्ते जन्तुः कृत्याकृत्यविभौभ्रमम्।।

अर्थात् पाप और पुण्य कर्मों के फल के विधानानुसार प्रारब्ध नाम की लहर कर्माशय रूपी समुद्र में उठती है तो जीवनरूपी जन्तु लहर के सहारे बहने लगता है यानि जन्म लेता है। इसी प्रारब्ध के नियमानुसार उसकी योनि अर्थात् शरीर प्राप्ति, उस शरीर में प्राप्त होने वाले सुख तथा दुखरूपी भोग तथा उस शरीर की आयु निर्धारित होती है। इसीलिए शरीर का नाम भोगायतन रखा गया है और उसकी मृत्यु निश्चित होती है। कोई भी डॉक्टर मृत्यु के संयोग को नहीं टाल सकता, निमित्त चाहे जो बने। जब पुण्यकर्म अपना फल देता है तो स्वाभाविक रूप में सतोगुण की वृद्धि होती है और सुखानुभूति होती है और जब पापकर्म अपना फल देता है तो तमोगुण तथा रजोगुण दुख की वृत्ति के रूप में प्रकट होते हैं। प्रारब्ध का भोग अवश्यंभावी होता है, क्योंकि भगवान कृष्ण ने बताया है कि–

स्वभावजेन तु कौन्तेय निविद्धः स्वेन कर्मणा।

कर्तुं नेच्छति यत् मोहात् करिष्ये अवशोऽपितत्।।

अर्थात् जीवात्मा प्रारब्ध के फलस्वरूप अपने स्वभाव से इस तरह बंधा हुआ है कि यदि वह अज्ञानवश कोई कर्म न भी करना चाहें तो भी वह कर्म उसे करना ही पड़ेगा, क्योंकि प्रकृति उसे परिस्थितिवश विवश कर देगी।

अभी तक हमने जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन किया है और भगवान की त्रिगुणात्मक माया ने जैसे उसे क्लेश और कर्मों के जाल में बाँध रखा है। इसके विपरीत परमात्मा का स्वरूप है कि–

''क्लेशकर्मविपाकाशयैः अपरामिष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः''

अर्थात् परमात्मा क्लेश तथा कर्म और उनके विपाक यानि प्रारब्ध से कभी छुआ तक नहीं गया है। इसीलिए वह उत्तमपुरुष है। माया भी परमात्मा की सेविका है। ऐसी विडम्बना में जीवात्मा कभी परमात्मा नहीं हो सकती। किन्तु यह तर्क उचित नहीं, क्योंकि भगवान पतंजलि कहते हैं कि–

''स्वस्वामीशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः''

अर्थात् प्रकृति और पुरुष का संयोग जीवात्मा के लिए अपने सत्यस्वरूप को प्राप्त करने के लिए ही हुआ है। इसी संयोग के माध्यम से जीवात्मा अष्टांग योग की साधना के द्वारा अपने अन्तःकरण की अशुद्धि को नष्ट कर तथा ज्ञानदीप्ति को प्रकट कर अपने सत्यस्वरूप के दर्शन कर सकता है। यह सत्यस्वरूप ही परमात्मा का स्वरूप है जो कि ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा देखा जा सकता है। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा चित्त के तीनों परिणामों पर विजय करने पर प्राप्त होती है। प्रज्ञा की भी सात प्रान्तभूमि हैं जिनका ज्ञान समाधि के द्वारा ही प्राप्त होता है।

तुम्हारी प्रार्थना का ध्येय क्या है ? स्वर्ग–प्राप्ति, किसी की वस्तु–सिद्धि, और दूसरों का उससे वंचित करने की कामना ! ''प्रभो ! भोजन मुझे खूब मिले ! दूसरा भले ही भूखा रहे !'' नित्य, अनन्त, शाश्वत, सच्चिदानन्दस्वरूप उस ईश्वर की कैसी भव्य कल्पना है जिसमें कोई भेद नहीं, कोई दोष नहीं, जो सदा स्वतन्त्र, निरन्तर निर्मल एवं सतत् परिपूर्ण हैं ! हम उसे समस्त मानवीय लक्षणों, कार्य–व्यापारों एवं सीमाओं से आभूषित करते हैं। उसे हमारे लिये खाना देना पड़ेगा, कपड़ा देना पड़ेगा, वस्तुतः ये सारे काम हमें स्वयं करने होंगे, और कभी भी किसी ने यह सब हमारे लिए नहीं किया। यही स्पष्ट सत्य है।

प्रकृति से अपना नाता तोड़कर परमात्मा से अपना नाता जोड़ो

ब्र० ओमप्रकाश, लखनऊ

इस संसार में मुख्यतया दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि है। प्रथम दैवीय तथा दूसरी आसुरी। जगत में ये ही दो प्रवृत्तियाँ व्याप्त रही हैं। इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों के लोगों में दैवासुर संग्राम बाहर संसार में तथा मनुष्यों के शरीरों के अन्दर चलता रहता है। कभी दैवी वृत्ति आसुरी वृत्ति पर हावी होती है तो कभी आसुरी वृत्ति दैवी वृत्ति पर। संसार में कुछ लोग दैवी गुणों को संपत्ति समझते हैं तो कुछ आसुरी गुणों को सम्पत्ति समझते हैं और इन्हें बटोरने में लगे रहते हैं।

प्रकृति से नाता बनाये रखने से मनुष्य प्रकृति के सत, रज और तम गुणों से बंधा रहता है। इन गुणों में बंधा रहना ही आसुरी प्रकृति है। प्रकृति से नाता तोड़कर जीव का परमात्मा से नाता जोड़ना ही दैवी प्रकृति है। इनमें दैवी प्रकृति सात्विक है; आसुरी राजसिक है राक्षसी तामसिक है। मनुष्यों की प्रकृति दैवी, आसुरी और राक्षसी–इन भेदों के कारण तीन प्रकार की है। राक्षसी तथा आसुरी लगभग एक सी है। संसार की इन दो परस्पर–विरोधी धाराओं का विचार विश्व के हर धर्म में पाया जाता है। इसी को दैवासुर संग्राम नाम दिया गया है इसी को बाइबिल तथा कुरान में खुदा तथा शैतान के नाम से कहा है।

गीता में दैवी–संपदा के 26 गुण निम्न प्रकार के गिनाये हैं।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।।

(गीता 16–1–2–3)

अर्थात् हे भारत! दैवी प्रकृति के वो लोग हैं जिनमें निर्भयता अन्तःकरण की शुद्धि ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्यागः शान्ति, दूसरों के दोष न ढूंढ़ना प्राणियों पर दया लोभ का न होना, स्वभाव में मृदुता, कोमलता, लज्जाशीलता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, द्वेष न होना, अत्यन्त अभिमान न होना ये सब उस व्यक्ति के गुण हैं जो दैवी सम्पत्ति लेकर संसार में जन्म लेता है। अब आगे भगवान आसुरी सम्पत्ति के कुल 6 अवगुण बताते हैं। आसुरी प्रकृति के लोगों में यह 6 अवगुण पाये जाते हैं–

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।।

(गीता 16–4)

अर्थात् हे पार्थ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य अज्ञान ये छः दुर्गुण उस व्यक्ति के हैं जो आसुरी सम्पदा को लेकर संसार में जन्म लेते हैं। भगवान ने यहाँ व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र में दिखाई दे रहे दो प्रकार के आधारभूत विचारों की तरफ संकेत किया है। सद्गुण, दैवी संपदा मानव की उच्च प्रकृति दूसरी तरफ है; इन्हीं दोनों में परस्पर युद्ध संघर्ष चलता रहता है–शरीर और संसार में। मानव के व्यक्तिगत जीवन में भय, मलिनता, अज्ञान, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध उसे असुर बनाये रखते हैं इनका मुकाबला करके उसे निर्भय शुद्ध, ज्ञानी, नम्र, प्रेममय होना है। यही दिव्य गुण है। इन्हीं दिव्य गुणों को पाकर वह प्रकृति से मुक्त होकर परमात्मा की तरफ ले जाने वाली राह पर चल सकता है। मनुष्य समाज सदा इन दुर्गुणों से आक्रान्त रहता है।

इन दैवी तथा आसुरी प्रकृति के परिणाम दो हैं मोक्ष और बन्धन। यथा–

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।

(गीता 16–5)

दैवी संपद मोक्ष देने वाली और आसुरी संपद बन्धन में डालने वाली है। मूढ़–अज्ञानी लोग कुछ आसुरी गुणों को संपत समझते हैं और उन्हें बटोरने में लगे रहते हैं–दूसरे ज्ञानी–समझदार लोग दैवी गुणों को सम्पत्ति समझकर उसका संग्रह करते हैं।

मनुष्य प्रकृति के गुणों से (सत्व, रज, तम) से बंधा रहता है इनमें बंधे रहना ही आसुरी प्रकृति है। प्रकृति से नाता तोड़कर जीव का परमात्मा से नाता जोड़ना दैवी प्रकृति है। आसुरी प्रकृति का अर्थ है। प्रकृति के साथ अपने को घुला–मिला देना और दैवी प्रकृति का अर्थ है

जीव का परमात्मा के साथ घुलमिल जाना। दैवीय प्रकृति के लोगों का स्वभाव होता है निर्भयता अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, द्वेष का न होना अत्यन्त अभिमान न होना; और आसुरी प्रकृति के लोगों का स्वभाव होता है, दम, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान। ये आसुरी दुर्गुण हैं।

आसुरी प्रकृति के लोग न यह जानते हैं कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। उन्हें प्रवृत्ति निवृत्ति का ज्ञान नहीं उनमें न पवित्रता पायी जाती है न सदाचार पाया जाता है न सत्य, पाया जाता है। पवित्रता शारीरिक गुण है तथा सदाचार मानसिक गुण है। सत्य आध्यात्मिक गुण है जिनके लिए भोग ही सर्वस्व है, भगवान नहीं। काम, क्रोध, लोभ ये तीन नरक में जीव को ले जाने वाले हैं। गीता में इन प्रकृति के तीनों गुणों की गति बताते हुए कहा है। ऊपर के लोकों को सत्व गुण है ये गुण जीव को ऊपर के लोकों में ले जाता है। मृत्यु लोक में ही जो जीवों को रखता है, वह है रजोगुण तथा अधोगति को देने वाला तमोगुण है।

इस संसार में दो प्रकार की संपदा है एक तो भौतिक प्राकृतिक संपदा धन आदि, तथा दूसरी है भगवान की संपदा राम नाम धन की। दैवी प्रकृति के लोग संसार के बन्धन से छूट जाते हैं। आसुरी प्रवृत्ति के ईश्वर का तिरस्कार करते हैं अपने को ही सब कुछ मानते हैं। धन दौलत को ही ये जमा करते रहते हैं। आसुरी प्रकृति वालों के नरक में जाने के तीन दरवाजे हैं—काम, क्रोध, लोभ। काम का अर्थ है वासना, इच्छा। विषयों के संग से कामना उत्पन्न होती है। हमारी प्रत्येक गतिविधि का मूल आधार कामना है, इच्छा है। संसार का प्रवाह ही कामना के स्रोत से बह रहा है। जब कामना अवरुद्ध होती है तब कामना, क्रोध का रूप धारण कर लेती है। अगर कामना बिना रुकावट के पूरी होती चली जाती है तब वह लोभ का रूप धारण कर लेती है। एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी इस प्रकार मनुष्य के मन में कामना उठती रहती हैं इस प्रकार 'काम' का एक सिरा 'क्रोध' है, तो दूसरा सिरा 'लोभ' है। 'क्रोध' और लोभ दोनों 'काम' के ही दो रूप हैं।

सतयुग में समाज की सत्ता ब्राह्मणों के हाथ में थी द्वापर में क्षत्रियों के हाथ में सत्ता रही, त्रेता में वैश्य युग आया तो वैश्यों के हाथ में सत्ता रही अब यह कलियुग है शूद्रों का युग है इसलिए आज सत्ता शूद्रों के हाथ में है। आसुरी प्रकृति का व्यक्ति कहता है कि सारी सत्ता प्रभुत्व मुझे चाहिए। सारी दुनियाँ में मेरा शासन मेरी बात मानी जाए। इसी प्रकार हमारी

संस्कृति उत्कृष्ट है। हिन्दू-मुस्लिम, ईसाई सभी महत्वाकांक्षी लोग अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ बताते हैं यही सब अहंकार दर्प, अभिमान, घमंड, आसुरी भाव हैं। संसार की सारी सम्पत्ति मेरी है। मैं प्राप्त करूँगा दूसरों को नहीं दूँगा। सत्व प्रधान दैव है। रजोगुणी हैं वह असुर हैं। गीता का लक्ष्य आत्मा को नीचे से ऊपर ले जाना है। आत्मा को प्रकृति में से अर्थात् प्राकृत शरीर में निकाल कर परमात्मा में लाकर लय करना है। तीनों प्रकृति गुणों का त्याग ही गीता का मोक्ष है। इसी को **''निस्त्रैगुण्यों भवार्जुन''** या गुणातीत कहा है। जीव में और भगवान में यही अन्तर है कि भगवान के तो प्रकृति वश में है परन्तु यह जीव प्रकृति के वश में है। जैसे भगवान प्रकृति को अपने वश में किए हुए है वैसे ही जीव भी अपने को प्रकृति के वश में न समझे।

आसुरी प्रकृति वाला व्यक्ति संसार में भगवान को न मानकर अपने **'अहम्'** को 'ईश्वरीहमा' मैं ही ईश्वर हूँ ऐसा मानता है। दैवी प्रकृति वाले भगवान को मानकर भगवान की उपासना करते हैं, तथा आसुरी प्रकृति वाले संसार की उपासना करते हैं।

जीव को चाहिए कि वह प्रकृति से नाता तोड़कर परमात्मा से अपना नाता जोड़े। अर्जुन को प्रकृति के इन तीनों ही गुणों का त्याग कर **''निस्त्रैगुण्यो भवार्जुनः''** की आज्ञा देते हैं। जो व्यक्ति रजोगुण की प्रधानता में शरीर त्यागता है तो वह कर्मों में आसक्त लोगों के यहाँ जन्म लेता है और तमोगुण की अवस्था में जो शरीर छोड़ता है वह मूढ़ पापियों के यहाँ जन्म लेता है। और जो व्यक्ति सत्व गुण की अवस्था में शरीर को त्यागता है वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है।

मानव शरीर में जीव भी रहता है और परमात्मा भी रहता है परन्तु जीव तो देह में प्रकृति के गुणों से बंधा रहता है। प्रकृति के भोग को अपना भोग मानने लगता है। परमात्मा आत्म रूप से मानव शरीर में रहता हुआ भी देह से अलग दृष्टा बना रहता है। जीव को भी दृष्टा बनना है। जीव की मुक्ति का अर्थ यही है कि वह परमात्मा की तरह मानवदेह में रहता हुआ भी अपने को उससे (प्रकृति) से अलग समझे जब जीव भी अपने को परमात्मा की तरह देह से अलग समझने लगता है तब वह परमात्मा के साधर्म्य में पहुँच जाता है।

मनुष्य देह का जितना भी व्यापार है वह प्रकृति कर रही है प्रकृति ही कर्त्ता भोक्ता है; आत्मा नहीं। तमोगुण मलिन है, रजोगुण पूरी तरह मलिन नहीं; कर्म करने की इच्छा रजोगुण से पैदा होती है। सत्व गुण निर्मल है। सत्व गुण का पहला दोष है अहंकार अभिमान है, दूसरा

दोष शुभ कर्मों मे आसक्ति आलस्य–प्रमाद, नींद यह जीवों को आलस्य–प्रमाद में बाँध लेता है। रजोगुण के प्रधान लक्षण हैं, तृष्णा तथा कर्म नाना प्रकार के कर्म करने की इच्छा, तृष्णा, लालसा से यह गुण बाँध लेते हैं। सत्व गुणी समझने लगता है कि उसने वह आत्म प्रसाद पाया जो किसी के पास नहीं है यह घमंड ही सत्व गुणी को ले डूबता है। सत्व गुणी व्यक्ति शुभ गुणों में इतना ऐसा आसक्त हो जाता है कि वह भी उसके सुख–दुःख के कारण बनने लगते हैं। अतः गीता का अन्तिम लक्ष्य इस सत्व गुण को भी जीतना है, क्योंकि यह भी प्रकृति का ही गुण है जबकि सत्व गुण तो उपादेय है लेकिन, अहंकार, अभिमान घमंड इसके दोष हैं। अतः इसको भी जीतना आवश्यक है। रजोगुण से तमोगुण को जीते शारीरिक श्रम करके फिर सतोगुण के द्वारा रजोगुण पर विजय प्राप्त करें। अपनी इच्छा कामनाओं से प्रेरित कर्म न करके भगवत् इच्छा से कर्म करें। सबकी इच्छा का त्याग करें। इस प्रकार तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्व गुण के द्वारा विजय प्राप्त करके तीनों गुणों को त्याग कर गुणातीत होना ही गीता का लक्ष्य है।

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योति करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्।।

वे सबको उत्पन्न करने वाले परमेश्वर मन और इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं को जो स्वर्ग आदि लोकों में और आकाश में विचरने वाले तथा बड़ा भारी प्रकाश फैलाने वाले हैं, हमारे तन और बुद्धि से संयुक्त करके हमें प्रकाश प्रदान करने के लिए प्रेरणा करें, ताकि हम उन परमेश्वर का साक्षात् करने के लिए ध्यान करने में समर्थ हों। हमारे मन–बुद्धि और इन्द्रियों में प्रकाश फैला रहे। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यान में विघ्न न कर सकें।

योग-आसन

वृक्षासन

वृक्षासन का लक्षण श्री महामुनि घेरण्ड जी ने इस प्रकार बताया है –

वामोरुमूलदेशे च याम्यं पादं निधाय च।
तिष्ठेत्तु वृक्षवद्भूमौ वृक्षासनमिदं विदुः॥

अर्थात् अपने बायें पैर की जंघा पर दाहिने पैर को जमा कर एक ही पैर से वृक्ष के समान स्थिर भाव से खड़ा रहे। इसी का नाम वृक्षासन है।

विधि– सीधे समभाव से खड़े होकर अपने दाहिने पैर को मोड़ कर बायें पैर की जंघा पर जमा कर रख दें व वृक्ष की तरह स्थिर भाव से खड़े रहें। इसी को वृक्षासन कहते हैं।

समय– साधारण 1 मिनट से आरम्भ करके 2 या 3 मिनट पैर बदल–बदल कर, कर लेना चाहिये।

फल– शारीरिक दृढ़ता, स्थैर्य एवं सहिष्णुता के भाव पुष्ट होते हैं।

अमृत कण

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स भुज्यते:।।
(श्वे.5/10)

जीवात्मा वास्तव में न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जब जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस समय उससे संयुक्त होकर वैसा ही बन जाता है। जो जीवात्मा आज स्त्री है, वही हमारे जन्म में पुरुष हो सकता है ; जो पुरुष है, वह स्त्री हो सकता है। भाव यह है कि ये स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि भेद शरीर को लेकर हैं; जीवात्मा सर्वभेद शून्य है, सारी उपाधियों से रहित।

◆ ◆ ◆

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे
व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।
(तैत्तिरीयोपनिषद / ब्रह्मानंद वल्ली /1)

ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है। जो मनुष्य परम विशुद्ध आकाश में रहते हुए भी प्राणियों के हृदय रूप गुफा में छिपे हुए उस ब्रह्म को जानता है, वह उस विज्ञान स्वरूप ब्रह्म के साथ समस्त भोगों का अनुभव करता है।

◆ ◆ ◆

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।
(कठोपनिषद् 1/16)

अविनाशी प्रणव–ऊँकार– ही तो एक अक्षर है जो ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है। इसलिए इसी अक्षर को जानकर जो जिसको चाहता है उसको वही मिल जाता है।

◆ ◆ ◆

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति।।
(प्रश्नोपनिषद् प्रश्न 2/13)

यह प्रत्यक्ष दीखने वाला जगत् और जो कुछ स्वर्ग लोक में है वह सब–का–सब प्राण के अधीन है। हे प्राण ! जैसे माता अपने पुत्रों की रक्षा करती है, उसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर तथा हमें कान्ति और बुद्धि प्रदान कर।

●●●

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Ag. 19/15-17 NOV. 2017

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ______________

____

____

□□□□□□

श्रुति का मंगलकारी संदेश

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि।।

श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदय से एक साथ मिलकर रहो, कभी विलग न होओ। एक-दूसरे को प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझ को खींच ले चलो। परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्त जनों से सदा मिले हुए रहो।

संस्थापकः- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्दमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा